अद्वैत वेदान्त में चैतन्य का समीक्षात्मक अध्ययन

(A CRITICAL STUDY OF CHAITANYA IN ADVAITA VEDANTA)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु
प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध
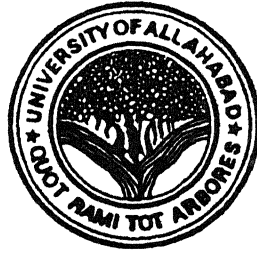
पर्यवेक्षक
डॉ० नरेन्द्र सिंह
उपाचार्य
दर्शन शास्त्र विभाग
इ० वि० वि० इलाहाबाद

अनुसन्धाता
अवधेश सिंह
(एल. एल. बी., जे आर एफ)
पुलिस उपाधीक्षक

दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

मार्गशीर्ष – शुक्लपक्ष
विक्रम सम्वत् २०५८

ॐ माँ क्रीं

''श्री सर्वेश्वरी त्वं पाहि माम् शरणागतम्''

रमता है सो कौन
घट-घट में विराजत है,
रमता है सो कौन
बता दे कोई--!

''परम् पूज्य अघोरेश्वर भगवान् अवधूत राम जी'

प्राक्कथन

अनादिकाल से मानव मनीषा दृश्यमान प्रपंच के मूलतत्व को जानने के लिए व्यग्र रही है। मनुष्य की यह सहज जिज्ञासा दर्शनशास्त्र के जन्म का कारण बनी। भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय (चार्वाक को छोड़कर) चाहे वह आस्तिक दर्शन हो अथवा नास्तिक, मनुष्य की इसी जिज्ञासा का प्रशमन करने का प्रयास करते रहे हैं। आस्तिक दर्शनों में प्रस्थानत्रयी के आधाराश्म पर विकसित होने वाले वेदान्त का स्थान सर्वोपरि है। वेदान्त में जगत् क्या है? जगत् से परे कोई तत्व है या नहीं, है तो उसका स्वरूप क्या है? जगत् की सत्ता वास्तविक है अथवा नहीं, इत्यादि प्रश्नों पर सभी आचार्यों ने अत्यन्त गहन विचार प्रस्तुत किया है। वेदान्त के प्रमुख पाँच सम्प्रदायों में अद्वैत वेदान्त शीर्षस्थ है। विद्यार्थी जीवन से ही आचार्य शंकर के प्रति सहज श्रद्धावनत होने के कारण विचारों को जानने की उत्कट अभिलाषा रही है। इसी कारण मैंने स्नातक परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करने के पश्चात् स्नातकोत्तर अध्ययन के लिए दर्शनशास्त्र विषय को चुना। सत्र 1991-92 में यू0जी0सी0 की **जूनियर रिशर्च फेलोशिप** परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् शोध कार्य के प्रति मेरी रूझान बढ़ गयी। इसी बीच मुझे वेदान्त के उद्भट विद्वान एवं विभाग के वरिष्ठ उपाचार्य **डॉ0 नरेन्द्र सिंह** का सहज स्नेह प्राप्त हुआ। जिसका प्रतिफल मुझे **"अद्वैत वेदान्त में चैतन्य का समीक्षात्मक अध्ययन"** गूढ विषय पर शोध करने के अवसर के रूप में प्राप्त हुआ। जीविका और शोध के अन्तर्द्वन्द्व में शोध कार्य पिछड़ता गया, किन्तु शोध के प्रति मेरे समर्पण का परिणाम प्रस्तुत शोध प्रबन्ध है। जिसे

विलम्ब से ही सही, सुधीजनों के समक्ष प्रस्तुत करने का मैं दायित्व निभा रहा हूँ।

मेरे शोध कार्य में प्रारम्भिक महत्वपूर्ण योगदान **स्व0 डॉ0 वीरेन्द्र कुमार सिंह** (उपाचार्य-संस्कृत विभाग इ0वि0वि0) का है, जिन्होंने समय-समय पर मुझे निरन्तर शोध कार्य हेतु प्रेरित किया। उनके इस उत्साहवर्धन एवं सहयोग हेतु मैं सदैव नतमस्तक हूँ। मेरे शोध निर्देशक श्रद्धेय **डॉ0 नरेन्द्र सिंह जी ने सपत्नीक** जिस सहजभाव से मुझे निरन्तर स्नेह एवं मार्ग दर्शन प्रदान किया, वस्तुतः उसी का परिणाम प्रकृत शोध प्रबन्ध है। उनके प्रति किसी भी प्रकार का आभार प्रदर्शन उस सहज स्नेह का विघातक होगा। जिसे मैं अद्यावधि प्राप्त कर रहा हूँ और भविष्य में प्राप्त करने के प्रति आशावान् हूँ ।

सर्वप्रथम सपत्नीक मैं श्री सर्वेश्वरी समूह के परम पूज्य अघोरेश्वर भगवान् अवधूतराम जी के प्रति श्रद्धावनत हूँ, जिनकी असीम कृपा से शोध प्रबन्ध को पूरा कर सका। अतिशय समयाभाव में अपने शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में, मैं **श्रीमती तिलोतिमा वर्मा** (I.P.S.) **डॉ0 आर.पी. सिंह** (I.P.S.) पुलिस अधीक्षक-सुल्तानपुर, **श्री जे0 के0 शुक्ल, श्री वी0 के0 सिह यादव** (अपर पुलिस अधीक्षक सुल्तानपुर) का ऋणी हूँ जिन्होंने मुझे पुलिस उपाधीक्षक-नगर, सुल्तानपुर के व्यस्ततम कार्यक्रम से समय-समय पर अवसर प्रदान कर व उत्साहित करते हुए महनीय योगदान किया।

इसी सन्दर्भ में **श्री यदुनाथ सिंह** (प्रवक्ता-उर्दू), **प्रो0 राम किशोर शास्त्री** (उपाचार्य संस्कृत विभाग- इ0 वि0 वि0) प्रो0 के.पी. सिंह (संस्कृत

विभागाध्यक्ष), डॉ0 वी0 एन0 सिंह, डॉ0 रेवती रमण पाण्डेय, (दर्शनशास्त्र विभाग) का हि0 वि0 वि0 वाराणसी, **डॉ0 अन्जनी सिंह**, उपाचार्य-दर्शनशास्त्र गोरखपुर, डॉ0 भगवन्त सिंह (उपाचार्य-रायपुर) डॉ0 यशवन्त सिंह (प्राचार्य-के0 एन0 आई0), डॉ0 दुर्गादत्त पाण्डेय, डॉ0 एम.पी.सिंह (प्रवक्ता-एम.आर.पी.डिग्री कालेज सुल्तानपुर) प्रभृति का मैं आभारी हूँ जिन्होंने शोध कार्य को पूर्ण करने में यथायोग्य सहायता प्रदान की।

अस्तु विभागीय गुरूजन **प्रो0 संगम लाल पाण्डेय, प्रो0 राम लाल सिंह, प्रो0 डी.एन. द्विवेदी,** डॉ0 मृदुला प्रकाश, डॉ0 गौरी मुखर्जी, डॉ0 हरिशंकर उपाध्याय, डॉ0 जटाशंकर त्रिपाठी, प्रभृति का ऋणी हूँ जिन्होंने मुझे शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने हेतु, अवर्णनीय सहयोग प्रदान किया।

मेरे यह प्रयत्न को साकार रूप देने में मित्रगण डॉ0 राधेश्याम मिश्र (प्रवक्ता-भूगोल), डॉ0 पी0 के0 सिंह (प्रवक्ता गणित-इ0वि0वि0), डॉ0 अमरकान्त सिंह, डॉ0 उत्तम सिंह, **श्री जे0 पी0 सिंह,** (सी0 जे0 एम0 सुल्तानपुर), श्री जे0 पी0 सिंह (तहसीलदार), **डॉ0 मुहम्मद शरीफ** (प्रवक्ता अलीगढ़ वि0 वि0)।

श्री डी0 एन0 सिंह (वनक्षेत्राधिकारी), श्री विजय प्रकाश सिंह (सुल्तानपुर), श्री दिनेश सिंह (शोध-छात्र इ0 वि0 वि0) प्रभृति ने भरपूर सहयोग एवं उत्साह वर्धन किया जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

तत्पश्चात् परम पूज्य पिता श्रद्धेय **श्री उग्रसेन सिंह**, (पूर्व प्रधानाचार्य), एवं पूजनीया माता **श्रीमती चम्पा सिंह** जी के प्रति श्रद्धावनत् हूँ जिन्होंने असीम वात्सल्य एवं संरक्षण प्रदान करके मुझे इस योग्य बनाया

कि मैं शिक्षा के इस उच्च शिखर पर स्वयं को आरूढ़ कर सका। इसी क्रम में पितृ-तुल्य **श्री वंशराज सिंह** (पूर्व अध्यक्ष-प्रधानाचार्य परिषद्) के कृतज्ञता भार से चिरऋणी हूँ। सदैव यथायोग्य सहयोग हेतु अपनी धर्मपत्नी **श्रीमती शशिबाला सिंह** (साहित्याचार्य), अनुज **सपत्नीक, डॉ0 राजेश सिंह** (एम0 ए0 एल0 एल0 बी0, डी0 फिल्0), प्रवक्ता संस्कृत-हण्डिया, इलाहाबाद, श्री दिनेश प्रताप सिह (एम0 ए0 हिन्दी, दर्शनशास्त्र, एल0 एल0 वी0), श्री सन्तोष कुमार सिंह (एम0 ए0, एल0 टी0), अनुजाद्वय श्रीमती चन्द्रकला सिंह (साहित्याचार्य), श्रीमती शशिकला सिह (एम0ए0, सी0टी0) का योगदान सराहनीय है जिनसे शोध कार्य में आद्योपान्त सतत प्रेरणा मिलती रही। इसके पश्चात् मैं नलिनी प्रकाशन के सक्सेना बन्धुद्वय को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अपने सहयोगी श्री शेखर यादव द्वारा टंकण कार्य कराके शोध प्रबन्ध को इस रूप में प्रस्तुत कराया।

अन्ततः में समस्त ज्ञाताज्ञात शुभचिन्तको के प्रति श्रद्धावनत होता हुआ प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को विद्वज्जनों के समक्ष नीर-क्षीर विवेक हेतु प्रस्तुत कर रहा हूँ। मुझे विश्वास है कि वे अपरिहार्य त्रुटियों को क्षमा करते हुए प्रकृत शोध प्रबन्ध की समीक्षा करेंगे।

अवधेश सिंह

श्रद्धावनत्

अवधेश सिंह

(पी0 पी0 एस0)

पुलिस उपाधीक्षक-नगर

सुल्तानपुर

विषयानुक्रमणिका

अध्याय-1

भूमिका

(1) हिन्दू दर्शन में चेतना की समस्या के व्यवस्थित अध्ययन की आवश्यकता

(2) चेतना के अनुसंधान की अद्वैतवादी विधियाँ

(क) तत्त्वमीमांसीय विधि

(ख) ज्ञानमीमांसीय विधि

(ग) नैतिक विधि

(घ) मोक्ष शास्त्रीय विधि

भूमिका

उस क्षण से ही जब मानव ने स्वयं अपने अस्तित्व पर विचार करना प्रारम्भ किया उसकी चेतना या जगत् और उसके बीच ज्ञान के सम्बन्ध का तथ्य उसके ध्यान को सतत् आकर्षित करता रहा। उसने अनुभव किया कि उसमें, उन सबसे जो उसके चारों ओर हैं कुछ अधिक हैं, इस प्रकार वह पत्थर वनस्पति या पशुओं से भिन्न है। इस प्रकार पूरे ब्रह्माण्ड में केवल मनुष्य को ही ज्ञानवान होने की महत्ता प्राप्त थी इसलिए वह अकेला ही पूरे ब्रह्माण्ड के रहस्य को टकटकी बांधकर देख सकता था या आश्चर्य प्रकट कर सकता था। इस प्रकार मानव की स्वभावजन्य जिज्ञासा के अरूणोदय के साथ ही उसकी उसके आभ्यान्तर में विद्यमान चेतना आत्मस्वरूप की गवेषणा में चिरमग्न होते हुए इस प्रश्न की कि किमिदं? तथा कोऽहं? (यह क्या है? तथा मैं कौन हूँ?) को उत्तरित करने की चेष्ठा में अग्रसर रही। दृष्टिगत वैविध्य एवं उसके परिपार्श्व में विद्यमान व्यवस्था तथा सामंजस्य के रहस्यों ने मनुष्य को निरन्तर यह सोचने के लिए विवश किया कि उसके जीवन का लक्ष्य क्या है? क्या वह शरीर. मात्र है या उसके अलग कुछ और है? क्या मृत्यु ही जीवन का अन्त है? यदि मृत्यु ही जीवन का निष्कर्ष है तो क्या संभव नहीं है शीघ्रतिशीघ्र आ जाय? प्रकृति की इस व्यवस्था सामंजस्य और विविधता का कारण क्या है? क्या

वह चेतन है या अचेतन है? एक है अनेक है? हजारों वर्षो से भारतीय मनीषा इन्हीं प्रश्नों को उत्तरित करने के प्रयास में शरीर से भिन्न शरीर के स्वरूप आश्रय आदि की गवेषणा में पुरस्सर रही है। अद्वैत वेदान्त भी ''कोऽहं तथा किमिदं'' को उत्तरित करने की चेष्टा में कहता है कि **''तत्वमसि''** ''सर्वखाल्विदंब्रह्म''। किन्तु जो इसे ब्रह्म रूप में नहीं देख पा रहा है उसके अन्दर यह स्वभाविक प्रश्न परम्परा उठने लगती है कि तत् या ब्रह्म क्या है? उसका स्वरूप क्या है? क्या यही विशुद्ध चैतन्य है? उसे जानना स्वयं को जानना कैसे हो सकता है? यही वे प्रश्न है जिनकी समीचीन सुसंगत एवं शास्त्रानुकूल व्याख्या भारतीय चिन्तनधारा के साथ प्रवाहित होती हुई वेदान्त दर्शन रूप सागर में समाहित होती है इसी सागर के मंथन से प्राप्त अद्वितीय रत्न अद्वैतवाद है जो शंकराचार्य के दर्शन में तार्किक सुसंगत एवं शास्त्रानुकूल बन गया है। इस अद्वैत सागर की विभिन्न तरंगे आज भी उसके माहात्म्य की गौरव गाथा को प्रकट कर रही है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त दर्शन से तात्पर्य वह शास्त्र या ज्ञान है जो परमार्थ रूप में भेद रहित या द्वैत विरोधी वस्तुतत्व का प्रतिपादन या दिग्दर्शन कराता है। इसमें ऐक्य से अधिक द्वैत के निषेध पर बल दिया गया है। यह दर्शन उपनिषद् भगवद्गीता एवं ब्रह्मसूत्र की नीव पर आधारित है। अद्वैतदर्शन में चैतन्यविषयक समाधान के रूप में '' ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:'' की सिद्धि की गयी है। इस प्रकार मूलभूत चैतन्य

तत्व एक है। उस निर्विकल्प, निरूपाधिक, निर्विकार चेतन सत्ता का नाम ब्रह्म है। वाह्य रूप में उसकी प्रतीति दृश्य रूप में होती है। इसलिए स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि वाह्य जगत् जो जड़प्रतीत होता है क्या वह भी चेतन ही है? फिर आत्मा (ज्ञाता) भी चैतन्य है? वाह्य जड़ वस्तु दृश्य ज्ञेय भी चैतन्य है? तो चेतन्य का स्वरूप क्या है? इसी चैतन्य के स्वरूप को उद्घाटित करने का प्रयास आगे किया जायेगा ।

यद्यपि मेरे विवेचन का मूल विषय अद्वैतवेदान्त में चैतन्यतत्व है किन्तु चैतन्य की समस्या समस्त आस्तिक नास्तिक दर्शनों की केन्द्रीय समस्या होने के कारण मेरे लिए इस तथ्य की प्रेरणा बनी कि सर्वप्रथम यह बता दूं कि हिन्दू दर्शन में चैतन्य तत्व के व्यवस्थित अध्ययन की क्या आवश्यकता है?

हिन्दू दर्शन से मेरा तात्पर्य उपनिषदों से लेकर वेदान्त तक एवं उसके आगे आधुनिक दार्शनिक चिन्तन की अविच्छिन्न परम्परा से है जिसमें मुख्य रूप से भारतीय आध्यात्मिक चेतना प्रतिविम्बित होती है। जहां तक हिन्दू दर्शन के भारतीय दर्शन के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होने का प्रश्न है वह विवाद का विषय रहा है। यदि हिन्दू शब्द की व्युत्पत्ति को देखा जाय तो यह बहुत बाद की अरबों की देन है जो उन लोगों के लिए प्रयुक्त हुआ जो सिन्धु नदी के आसपास रहते थे अर्थात् **सिन्धवः** से **हिन्दवः शब्द बना जिससे कालान्तर में-हिन्द-हिन्दू एवं हिन्दुस्तानी आदि शब्द बना जो एक राष्ट्रीयता का बोधक बना।** भारत नाम भी

वैदिक कालीन ''भरत'' नामक कबीले के आधार पर पड़ा एवं राष्ट्र का बोधक हुआ। इस प्रकार यदि हिन्दू शब्द को राष्ट्रीयता के बोधक के रूप में ग्रहण करें तो उसे भारतीय दर्शन का पर्याप्य माना जा सकता है किन्तु यदि हिन्दू दर्शन का अर्थ वैदिक धर्मानुयायी होना माना जाय तो निश्चित रूप से हिन्दू दर्शन एवं भारतीय दर्शन के बीच विभाजक रेखा खींचना पड़ेगा जैसा कि श्री सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं श्री धीरेन्द्र मोहन दत्त ने विभाजक रेखा को मान्यता प्रदान की है। इन्होंने अपनी मान्यता के समर्थन में माधवाचार्य के सर्वदर्शन संग्रह के उद्धरण को प्रस्तुत करते हुए बताया कि नास्तिक दर्शनों के प्रवर्तक वैदिक धर्मानुयायी नही थे[1] इसलिए यहां पर हिन्दू दर्शन की अवधारणा कुछ सीमित हो जाती है। प्रो0 हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा ने भी हिन्दू दर्शन को भारतीय दर्शन का अंग माना है तथा षड्दर्शनों को हिन्दू दर्शन कहा है क्योंकि प्रत्येक के संस्थापक हिन्दू थे। षड्दर्शनों- **''न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा, वेदान्त के प्रवर्तक क्रमशः गौतम, कणाद, कपिल पतंजलि जैमिनि एवं वादरायण माने जाते हैं जो हिन्दू थे।** यदि हिन्दू दर्शन भारतीय दर्शन होता तो यहां बौद्ध एवं जैन जैसे दर्शनों का संकलन न होता[2]। इस प्रकार हिन्दू दर्शन श्रुति स्मृति की सनातन परम्परा को मानने वाले एवं वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करने वाले दर्शनों को कहते हैं जिसमें उपनिषदों गीता के अतिरिक्त षड्दर्शनों को शामिल किया जा सकता है जिसे आस्तिक दर्शन कहा जाता है। मेरे शोध

---

1 भारतीय दर्शन-श्रीदत्त एवं श्री चटर्जी, द्वितीय संस्करण पृष्ठ-2

2 भारतीय दर्शन की रूपरेखा-प्रो0 हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, चतुर्थ सस्करण पृष्ठ-1

विवेचन का विषय अद्वैत वेदान्त से सम्बन्धित होने के कारण सीधे आस्तिक दर्शनों (हिन्दू दर्शन) से जुड़ा है जो निर्विवाद रूप से एक आत्मतत्व में विश्वास करते हैं। फिर भी पूर्वपक्ष के रूप में नास्तिक दर्शनों के महत्व को इन्कार नहीं किया जा सकता ।

चैतन्य की समस्या सभी आस्तिक नास्तिक दर्शनों की केन्द्रीय समस्या है। संसार में नाना प्रकार की वस्तुओं एवं उनकी अगणित अवस्थाओं का दर्शन होता है। दृश्यमान समस्त पदार्थो को चेतन एवं अचेतन दो भागों में बांटा जा सकता है।

पदार्थो की चेतनता का कारण उसमें व्याप्त किन्तु इन्द्रियों से अगोचर वह तत्व है जिसे जीव या आत्मा कहा जाता है चेतना जीव धारियों में रहने वाला वह तत्व है जो उन्हें निर्जीव पदार्थो से अलग करता है। प्राणियों के अचेतनतत्व से निर्मित शरीर के भीतर उससे स्वतन्त्र इस आत्मतत्व (चैतन्य तत्व) के अस्तित्व की मान्यता भारतीय तत्त्वज्ञान की अत्यन्त प्राचीन शोध है जिसकी महत्ता सभी भारतीय दर्शनों में स्वीकार की गयी है। इस चराचर जगत् में अनेक प्राणी निवास करते हैं इन सब में चैतन्य शक्ति समाविष्ट है किन्तु इसका पूर्ण स्फुरण मानव में हुआ, मानव अध्यवसाय का परमलक्ष्य तीनों तापों का पूर्णतया सार्वकालिक उच्छेद कर मोक्ष प्राप्ति है। इस प्रकार सांसारिक बन्धनों से छूटकारा एवं मोक्ष प्राप्ति चैतन्य की होती है जड़ की नहीं ।

चेतना के रहस्यों के उद्घाटन में सारे हिन्दू दर्शनों ने प्रयत्न किया किन्तु उनमें विचारों की सारी विविधताएं एवं छायाएं जो सम्पूर्ण निषेध से प्रारम्भ होकर चेतना को समस्त यथार्थ का मूलाधार और केन्द्र बनाने पर समाप्त होती है, देखने को मिलती हैं। सम्पूर्ण निषेध एवं आधारभूत विधेयों की इन दो सीमाओं के मध्य हमें माध्यमिक स्थितियों एवं दृष्टि बिन्दुओं की विविधता भी प्राप्त होती है। उपनिषदों के ऋषियों तथा गौतम कणाद, कपिल पतंजलि जैमिनि एवं वादरायण से लेकर रामानुज, जयन्त, श्रीधर तक विचारकों ने चेतना की समस्याओं पर इतने विरोधी उत्तर प्रस्तुत किये कि उनमें कठिनाई से ही कोई ऐसा उत्तर होगा जो कि उसके विरूद्ध उत्तर के समान प्रख्यात नही है या उनके द्वारा प्रस्तुत समाधानों में एक भी समाधान ऐसा नही है कि अपनी बारी में एक नई समस्या को जन्म न दे सके। इन विचारों में एकरूपता, तारतम्य, क्रमवद्वता एवं चैतन्य की एक बद्वता का अभाव है अत: आवश्यकता इस बात की है कि आधुनिक तत्वमीमांसा की भाषा में इस प्रकार की अकेली समस्याओं जैसे चेतना के स्वरूप आदि के विषय में विशिष्ट अध्ययन इस दृष्टि से किया जाय कि उनके संभाव्य समाधान की ओर हिन्दू योगदान पर पुनर्विचार हो सके तथा उसे पुन: विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया जा सके।

उपर्युक्त बातों को ठीक ढंग से समझने के लिए आवश्यक है कि पूरे हिन्दू दर्शन पर एक संक्षिप्त दृष्टि डाल लें। ऋग्वेद से उपनिषदों तक के दार्शनिक विमर्श में चेतना के सम्बन्ध में निम्न क्रमागत उपलब्धियों को प्राप्त करते हैं।[1]

---

1 ''भारतीय दर्शन में चैतन्यतत्व''- श्रीकृष्ण सक्सेना- प्रथम संस्करण पृष्ठ-4 चौखम्वा विद्या भवन, वाराणसी।

1. विश्व के आधारभूत सिद्वान्त के एकत्व की स्वीकृति। यह सिद्वान्त विश्व के अन्तरस्थ एवं सर्वातिरिक्त दोनों है।

2. इस सिद्वान्त का वाह्य जगत् से मानव के अन्तर जगत् में समग्र रूपेण परिवर्तन ।

3. वाह्य विश्व के विराट से अन्तर के सूक्ष्म पूर्व का तादात्म्यीकरण ।

4. इस सिद्वान्त के स्वरूप की पूर्ण चेतना के रूप में स्वीकृति जो कि सर्वव्यापक अपरिवर्तनीय तथा चिरन्तन रूप से वर्तमान है।

5. इस पूर्ण चेतना के अनुभव निरपेक्ष स्वरूप पर विशेष बल जो कि आनुभाविक जगत् के किसी भी ज्ञात पदार्थ से सर्वथा असमान है जो बाद में विकसित होने वाले सांख्य योग तथा अद्वैतवेदान्त की चेतना अनुभवातीत धारणाओं के लिए आधार शिला प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार सभी भारतीय दर्शनों का स्रोत उपनिषद साहित्य में ढूँढा जा सकता है और यही कारण है कि हिन्दू दर्शन में चेतना को समस्त संभवनीय विकल्पों में प्रस्तुत किया गया है। चेतना को द्रव्य, गुण या कर्म और चिरन्तन एवं अपरिवर्तनीय की तरह या फिर परिवर्तनीय या क्षणिक या पुनः नित्य रूप से विषयी और विषय के विभेद में विभक्त

तथा सदैव विषय वस्तु सहित विभिन्न रूपों में प्रस्तुत और प्रतिपादित किया है जिसे हम यथार्थवादी एवं प्रत्ययवादी दो स्थूल भागों में विभजित कर सकते हैं।

(1) यथार्थवादी दृष्टिकोण[1] ।
(2) प्रत्ययवादी दृष्टिकोण ।

यथार्थवाद की मान्यता है कि चेतना का उद्भव कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के संयोग के फलस्वरूप होता है और संयोगावधि के अनुसार वह कम या अधिक समय तक रहता है। वह नित्य रूप से वर्तमान नहीं है न परिस्थितियों के संयोग से स्वतन्त्र है। न्याय-वैशेषिक मत में चेतना को आत्मा का गुण माना गया है जिसका उद्भव यद्यपि आत्मा के साथ मनस् इन्द्रियों एवं विषयों आदि के संयोग से ही होता है तथापि उसका स्थान अध्यात्मिक द्रव्य आत्मा में ही होता है।[2] आत्मा भी चेतना को सदैव ही धारण नहीं करती क्योंकि अपनी मुक्तावस्था में वह अपने समस्त गुणों से रिक्त होती है जिसमें चेतना का गुण भी सम्मिलित होता है।[3] इस प्रकार चेतना किसी द्रव्य का आगन्तुक गुण या आगन्तुक धर्म मात्र है। चेतना की उत्पत्ति होती है उसका नाश होता है। इसकी उत्पत्ति वैसे ही होती जैसे घट में अग्नि के सम्पर्क से लालरंग पैदा हो जाता है।[4]

---

1 यथार्थवाद को भी स्थूल रूप से दो भागों में विभाजित कर सकते है जिसमें चार्वाक की पदार्थवादी यथार्थवाद का प्रतिनिधि एवं न्याय-वैशेषिक को आत्मवादी यथार्थवाद का प्रति निधि। यहां हम हिन्दू दर्शन के अन्तर्गत आत्मवादी यथार्थवाद का ही वर्णन करेगें।

2 न्याय कंदली-श्रीधराचार्य-पृष्ठ 97-अच्युत ग्रंथमाला वाराणसी-1963

3 न्यायवार्तिक 2.1.22

4 अग्नि-घट संयोजक रोहितादि गुणवत्।
ब्रह्मसूत्र शाकरभाव्य 2.3.12

निष्कर्षत: चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक मत की निम्नलिखित विशेषताएं ध्यातव्य है-

1. आत्मा अन्तत: अचेतन एवं जड़ है।

2. चेतना का अस्तित्व परतन्त्र है और वह स्वरूपत: संयोग की एक यान्त्रिक उत्पत्ति मात्र तथा क्षणिक या अनित्य है।

3. चेतना अन्य वस्तुओं या पदार्थो को अभिव्यंजित या प्रकाशित अवश्य करती है किन्तु उसका स्वयं का स्वरूप स्वप्रकाशित या स्वत: सिद्ध नहीं है।

प्रत्ययवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधि दर्शन वेदान्त एवं सांख्ययोग को माना जा सकता है। ये अपनी आस्था स्वतन्त्र चेतना में प्रकट करते हैं जो कि एक शुद्ध विषयवस्तु रहित एवं रूपहीन चित् ''ज्ञप्तिमात्र'' की तरह चिरन्तन रूप से अस्तित्व में है उसका न सृजन होता है न विनाश और बिना किसी अन्य पदार्थ की सत्यता के वह स्वाधिकार से ही सदैव वर्तमान रहती है। रामानुज की तरह कुछ विचारकों का विश्वास है कि चेतना चेतनात्मा का गुण धर्म है जबकि शंकराचार्य एवं सांख्ययोग के अनुसार चैतन्य आत्मा का गुण नही बल्कि स्वरूप ही है। सांख्य-योग अद्वैतवेदान्त की इस मान्यता से सहमत है कि चेतना चिरन्तन है तथा पुरुष अविभेद्य है इसके साथ ही वे आत्मा को स्वयंभू भी मानते हैं। वह मात्र अस्तित्व या यथार्थता के गुण को छोड़कर सर्वगुणों में अद्वितीय है और इस प्रकार द्रव्य

गुणा या कर्म की भाषा में पूर्ण रूपेण अनिर्वचनीय है उसकी सत्ता चिन्मात्रा और सर्वचित्त के मूल स्रोत के रूप में है। यह विशुद्ध चेतनत्व है जिसमें अहम् एवं इदम् का कोई भेद नहीं होता। इस प्रकार चेतना के अस्तित्व एवं स्वरूप के बारे में निम्नलिखित दृष्टिकोण प्राप्त होता है-

1. चेतना न तो किसी सम्पर्क की उत्पत्ति है न आत्मा का गुण, वह आत्मा का मूलतत्व या स्वरूप है वह किसी ज्ञान की क्रिया या कर्त्ता नही बल्कि स्वयं ज्ञान है। ज्ञान आत्मा की क्रिया मात्र नहीं उसका स्वरूप है[1]।
2. चेतना कुछ और नहीं स्वयं आत्मा है।
3. चेतना किसी अन्य वस्तु से भिन्न एवं अद्वितीय है।
4. वह नित्य अनुत्पादित अनन्त तथा असीम है वह किन्हीं परिस्थितियों के संयोग की उत्पत्ति नहीं हैं।

किन्तु शांकरमत एवं सांख्य मत में मूल अन्तर यह है कि सांख्य शंकर की भांति एक मात्र विशुद्ध चैतन्य की सत्ता न मानकर प्रकृति की सत्ता को उसके समकक्ष स्वीकार करता है जबकि रामानुज से अद्वैत मत का भेद यह है कि वे आत्मा को नित्य तथा चिद्रूप मानते हुए भी ''चैतन्य गुणक'' भी मानते है।[2] इस प्रकार चेतना को आत्मा का नित्य स्वरूप तथा अनित्य गुण दोनों मानते है किन्तु यदि चेतना गुण है तो उस

---

1 छान्दोग्य उपनिषद शांकरभाष्य 8.12.5

2 वही भाष्य 1.1.1

अवस्था में जब आत्मा उस गुण से विरहित होगा उसे अचेतन मानना पड़ेगा इसलिये आत्मा केचित् स्वरूप की रक्षा के लिए चेतना को भी आत्मा की भाँति नित्य मानना पड़ेगा और वह आत्मा का धर्म मानने से संभव न होगा वल्कि उसे आत्मा का स्वरूप मानना पड़ेगा[1] तब चैतन्य आत्मा का पर्याय हो जायेगा।

इस प्रकार चैतन्य के वास्तविक स्वरूप का प्रश्न एक समस्या का रूप धारण कर लेता है। स्वाभविक प्रश्न उठता है कि क्या द्वैतता हमारी चेतना का स्थाई लक्षण है? या किसी अवस्था में इसका कोई अन्त भी है जहाँ विषयी या अद्वैत चेतना अपने स्वभाव या स्वरूप में बिना किसी ऐसे विषय के जो इसे विशेषित या उसके स्वभाव को सीमित करता हो प्रकाशित होती है? या कि चेतना अपने आप में क्या है? इसी समस्या के समाधान के लिए हमे हिन्दू दर्शन में चैतन्य के व्यवस्थित अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है तथा इसके सामंजस्य पूर्ण हल के लिए अद्वैतवेदान्त की ओर उन्मुख होना पड़ता है। केवल पोद्गालिक शरीर मात्र चेतना का सिद्वान्त नही हो सकता कयोंकि मृत शरीर में चेतना की उपलब्धि नहीं होती है अचेतन वस्तुओं का कोई संयोग भी चेतना को उत्पन्न नही कर सकता। चेतना के प्रत्येक अंश का भी सचेतन होना उसी प्रकार आवश्यक है जैसे पुद्गल का प्रत्येक अणु पुद्गलात्मक होना आवश्यक हे। प्राण भी चेतना का सिद्वान्त नहीं हो सकता कयोंकि ऐसे असंख्य प्राणी है जिसमें प्राण का श्वाँस दौड़ रहा हे किन्तु जो ज्ञान या चेतना का कोई चिन्ह

---

1 "भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप"- श्रीकृष्ण सक्सेना ।
प्रथम संस्करण पृष्ठ-57

प्रकट नही करते है। बुद्धि भी अन्ततः शरीर एवं इन्द्रियों की भांति चेतना का एक अधिकरण मात्र सिद्व होती है।

न्याय वैशेषिक के आत्मा और चित् के बीच द्रव्य गुण के सम्बन्ध को भी नहीं माना जा सकता क्योंकि आत्मा और चित् अलग हैं तो उनमें द्रव्य गुण का सम्बन्ध नहीं हो सकता। संयोग के वाह्य सम्बन्ध द्वारा भी उन्हें सम्बन्धित नहीं किया जा सकता क्योंकि वे पोदृगलिक वस्तुएँ नहीं है और अनवस्था के कारण समवाय का आन्तरिक सम्बन्ध भी नही हो सकता इस तरह आत्मा और चित् अभिन्न है और शांकर वेदान्त का निष्कर्ष ही सत्य होता है[1]।

मीमांसक प्रभाकर चेतना को आत्मा का गुण मानते हैं किन्तु कुमारिल की मान्यता है कि चैतन्य आत्मा का कर्म है क्योंकि ज्ञानात्मक क्रिया ज्ञानकर्म का परिणाम है। इस प्रकार वे चेतना पर निर्भर एवं अनित्य बना देते हैं साथ ही आत्मा को स्वप्रकाशी भी मानते हैं किन्तु उसको स्वप्रकाशी स्वरूप की रक्षा के लिए चैतन्य को आत्मा का स्वरूप मानना आवश्यक हो जाता है। ऐसा मानने पर यह अद्वैत मत को ही अधिक सबल बनायेगा ।

रामानुज के बारे में पहले ही बता चुका हूं कि यदि वे आत्मा के चित् स्वरूप की रक्षा करना चाहते हैं तो चैतन्य को आत्मा का गुण न मानकर स्वरूप मानने के लिए विवश होना पड़ेगा। जहां तक सांख्य का

---

1 आत्मा चेतन्योरभेदः ।
गौणपादकारिका शाकर भाष्य 2.5

प्रश्न है चैतन्य के स्वतन्त्र सिद्धान्त को मान्यता तो प्रदान करता है किन्तु ज्ञान के रूप को उसकी विषय वस्तु से पूर्णतया विच्छेदित कर देता है। हम पौद्गलिक संग्रह मात्र से चेतना को अनुमित नहीं कर सकते किन्तु हमें यह विस्मृत नहीं कर देना चाहिए कि चैतन्य अपने व्यवहारिक स्वरूप में सदैव अपनी पौद्गलिक सामग्री द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। ज्ञान के इन दो सिद्धान्तों रूपात्मक एवं द्रव्यात्मक के बीच तात्विक सम्बन्ध को न देख पाना ही सांख्य का दोष है किन्तु यदि वह इस दोष को दूर करने की कोशिश करें तो अद्वैत वेदान्त बन जायेगा ।

इस प्रकार चैतन्य सर्वसमस्यात्मक हल के लिए अद्वैत वेदान्त के चैतन्य के स्वतन्त्र, नित्य, स्वयंप्रकाशस्वरूप की ओर उन्मुख होना पड़ता है।

इसी लिए मुझे इस तथ्य की प्रेरणा हुई कि अद्वैतवेदान्त में चैतन्य तत्व के एक समीक्षात्मक अध्ययन के द्वारा चैतन्य की विविध अवस्थाओं का एक सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध तथा सामंजस्यपूर्ण स्वरूप प्रस्तुत करूं। इस सम्बन्ध में **प्रो0 संगम लाल पाण्डेय का यह कथन समीचीन प्रतीत होता है कि वेदान्त में सभी दर्शनों का समन्वय होता है।**[1] सदानन्दयोगीन्द्र ने वेदान्तसार में दिखाया है कि सभी भारतीय दर्शन अरून्धती न्याय से वेदान्त में उपयोगी है क्योंकि ये सूक्ष्मतर अध्यारोप है जिनके अपवाद के वाद ही आत्मज्ञान होता है।[2] शंकराचार्य ने भी माण्डूक्य कारिका भाष्य में

---

1 ''भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण''- प्रो0 संगम लाल पाण्डेय पृष्ठ-389 द्वितीय संस्करण, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद 1984

2 सदानन्दकृत ''वेदान्तसार''-36-45

यह दिखाया है कि कपिल, कणाद, बुद्ध, जैन आदि के मत द्वैतवादी होने के कारण परस्पर विरूद्ध हैं किन्तु अद्वैतवाद के विरोधी नहीं है।[1]

इसलिए आगे अद्वैत वेदान्त के चैतन्य तत्व के सर्वसामंजस्यपूर्ण स्वरूप को व्यक्त करने का यथासंभव प्रयास करूंगा किन्तु उसके पहले आवश्यक हो जाता है कि चैतन्य के अन्वेषण की अद्वैतवादी विधियों का संक्षिप्त परिचय दे दूँ'' जिसके निम्नलिखित 4 रूप है-

1. तत्वमीमांसीय विधि ।
2. ज्ञानमीमांसीय विधि ।
3. नैतिक विधि ।
4. मोक्ष शास्त्रीय विधि ।

(क) तत्वमीमांसीय विधि

काल का चक्र तीव्रगति से घूम रहा है। जीवन क्षणभंगुर है और सब कुछ परिवर्तन के अधीन है। सब कुछ सापेक्ष एवं प्रवाह रूप है। ऊपर की ओर उठने का संघर्ष, यथार्थसत्ता की खोज, सत्य को जानने की चेष्टा इन सबका आशय यह है कि प्रवाह रूप जीवन धारा ही सब कुछ नहीं है। तर्कशास्त्र सम्बन्धी, विश्वविज्ञान सम्बन्धी तथा नीतिशास्त्र सम्बन्धी सभी हेतु इस विषय की ओर संकेत करते हैं कि इस सान्त जगत् से कहीं अधिक महान् कोई न कोई सत्ता अवश्य है और विचार के अन्तिम चरण में हम एक चेतन यथार्थ सत्ता को मानने के लिए विवश है वह यथार्थ सत्ता विशुद्ध चैतन्य या आत्मा ही हो सकती है।[2]

---

1 माण्डूक्य कारिका शांकर भाष्य 3.17

2 भारतीय दर्शन भाग-2 डा0 राधाकृष्णन पृष्ठ-460

शंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किया है-

1. तत्वमीमांसा का यह सर्वमान्य नियम है कि असत् से सत् की उत्पत्ति नही हो सकती। बन्ध्यापुत्र या आकाश कुसुम कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं कर सकता यदि कोई वस्तु असत् से उत्पन्न होती है तो वह असत् ही होती है उसका प्रत्यक्ष संभव नही होता। जबकि संसार की सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्ष से प्रकारान्तर से उस तत्व का भी प्रत्यक्ष होता है जिससे संसार की वस्तुओं का उद्भव होता है क्योंकि कारण अपने सभी कार्यो में अन्वित होता है। वह तत्व (आत्मा) ब्रह्म ही हो सकता है।[1] यदि असत् से वस्तुओं की उत्पत्ति होती तो असत् उन सभी वस्तुओं में अन्वित होता पर हम प्रत्यक्षत: देखते हैं कि संसार की वस्तुओं में असत् अन्वित न होकर सत् ही अन्वित होता है वही ब्रह्म (आत्मा) है।[2] इस युक्ति की मूल बात यह है कि प्रत्येक विशिष्ट वस्तु एक सत्ता सामान्य के विभेदीकरण से ही उत्पन्न होती है अर्थात् विशिष्ट वस्तुओं में सत्ता सामान्य का अंश अवश्य विद्यमान होता है जिससे उन विशिष्ट वस्तुओं का अस्तित्व संभव होता है। वही सत्ता सामान्य आत्मा (ब्रह्म) है।

---

1 न चासतो जातं सस्करण किचित् गृहते लोके कार्यम्। असतश्चेन्नाम रूपादि कार्यनिरात्मकत्वात् नीलभ्यते। उपलभ्यतेतृ तस्मादस्ति ब्रह्म ।

तैत्तरीयोपनिषद्शांकर भाष्य 2.6

2 असतश्चेत् कार्य गृहमाणपि असदन्वित्मेव तत् स्यात्। न चैवम तस्मादस्ति ब्रह्म। तैत्तरीयोपनिषदशाकर भाष्य 2.6 ।

2. संसार में यदि कार्य है तो उसका कारण अवश्य होना चाहिए। जिससे कोई वस्तु उत्पन्न होती है उसे निश्चित रूप से सत् होना चाहिए जैसे घट आदि का कारण मिट्टी तथा अंकुर आदि का कारण बीज सत्य है। आकाशादि कार्य है अत: उनका कारण ब्रह्म अवश्य ही सत् होना चाहिए।[1]

यहां कारण का वास्तविक अर्थ समझ लेना आवश्यक है। यहां कारण का वास्तविक अर्थ आधार या अधिष्ठान है। शंकराचार्य के पूर्व सभी दार्शनिकों ने निमित्त कारण एवं उपादान कारण में भेद किया था। वे किसी चेतन तत्व को निमित्त कारण एवं अचेतन तत्व परमाणुओं को उपादान कारण के रूप में स्वीकार करते थे परन्तु शंकराचार्य के अनुसार चेतन एवं अचेतन का यह द्वैत तर्कत: सिद्ध नहीं है क्योंकि यदि इस द्वैत को स्वीकार कर लिया जाय तो प्रथमत: चेतन व अचेतन के बीच किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं हो सकता।[2] तथा इस सम्बन्ध के अभाव में अचेतन सत्व न तो प्रवर्तक हो सकता है न प्रवर्तित ही।[3] इससे यही बात प्रमाणित होती है कि उपादान कारण व निमित्त कारण को एक दूसरे से पृथक सिद्ध नहीं किया जा सकता है दोनों के बीच तादात्म्य सम्बन्ध होना चाहिए। इस दृष्टि

---

1 यस्माच्च जायते किचित् तदस्तीति दृष्ट लोके यथा घटाड्-कुरादि कारणं यह बीजादि । तस्माद् आकाशादि कारणत्वाद् अस्ति ब्रह्म ।
-कठोपनिषद शांकर भाष्य 2.3.12

2 सम्बन्धानुपपत्तेश्च प्रकृते: पुरुषस्य च ।
उपदेश साहस्त्री 2,16,49 ।

3 नहि अचेतनं चेतनेनाधिष्ठितं प्रवर्तते प्रवर्तयति बेत्ति ।
शारीरक भाष्य 2.2-12

से परमसत् सृष्टि का उपादान व निमित्त कारण दोनों होना चाहिए वह तत्व आत्मा या ब्रह्म ही है।

3. संसार की सभी वस्तुएं किसी न किसी उद्देश्य या प्रयोजन की पूर्ति के लिए होती हैं। शंकराचार्य के अनुसार जगत् की नियामकता तथा समस्त वस्तुओं की सप्रयोजनता एक सर्वज्ञ नियामक चेतन तत्व के अस्तित्व को सिद्व करती है।[1] संसार में हम देखते हे कि जब किसी वस्तु का निर्माण होता है तो उसके पीछे कोई न कोई बौद्विक प्रयोजन अवश्य होता है जब उन साधारण वस्तुओं के निर्माण में बुद्धि का प्रयोग है तब इस अनोखी और अनुपम सृष्टि के निर्माण में कितनी बुद्धि का निर्माण किया गया होगा। इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। जगत् के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि इस विशाल सृष्टि का निर्माता कोई सर्वज्ञ चेतन तत्व ही हो सकता है वही चेतन तत्व आत्मा है जिसे ब्रह्म भी कहा गया है।[2]

4. नैतिकता के नियम की सर्वमान्य मांग है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके उचित व अनुचित कर्मो का ठीक-ठाक फल प्राप्त हो।

---

1 तत्सिद्विर्जगतोनियत प्रवृत्तेश्च ।
केनोपनिषद् शांकर भाष्य खण्ड-3, चांदहवां संस्करण पृष्ठ-119

2 शारीरक भाष्य 2.1.1

मनुष्य के कर्म दो प्रकार के होते हैं- (1) दृष्टार्थक (2) अदृष्टार्थक। पुनः दृष्टार्थक कर्म भी दो प्रकार के होते हैं-

1. वे कर्म जिनका फल तात्कालिक होता है जैसे भोजन।

2. वे कर्म जिनका फल कालान्तर में मिलता है जैसे कृषि सेवा, पुनः इस दूसरे प्रकार के कर्मो को तीन भार्गो में बांटा जा सकता है।

(अ) जिनका फल कर्त्ता पर निर्भर करता है जैसे कृषि ।

(ब) जिनका फलकर्ता पर आश्रित न हो कर दूसरे मनुष्यों पर आश्रित होता है जैसे सेवा सेवक करता है किन्तु फल स्वामी पर आश्रित है।

(स) तृतीय कर्म वे है जिनका फल न तो कर्त्ता पर निर्भर है न दूसरे मनुष्यों पर, जैसे यज्ञ करना, तप करना, दान देना इत्यादि। अब प्रश्न है कि इन कर्मो का फल कर्ता को कौन प्रदान करता है। इसके लिए भी हमें एक ऐसे चेतन तत्व को मानना पड़ेगा जो देश काल निमित्त कर्म विपाक के है विभाग का जानने वाला है और कर्त्ता को ऐसे कर्मो के फल को वितरित करता है यदि ऐसा न हो तो

कर्म का सिद्धान्त खण्डित हो जायेगा वह अचेतन तत्व आत्मा या ब्रह्म हो सकता है।[1]

डा0 राधाकृष्णन भी स्वीकार करते हैं कि शंकराचार्य के साहित्य में जो ब्रह्म के विषय में तार्किक प्रमाण उपलब्ध है वे तात्विकीय प्रमाण है[2] हम एक निरपेक्ष यथार्थ सत्ता की स्थापना के लिए विवश है अन्यथा हमारे ज्ञान एवं अनुभव का पूरा ढाँचा ही खण्डित हो जायेगा ।

(ख) ज्ञानमीमांसीय विधि

अद्वैत वेदान्त में एकमात्र विशुद्ध चैतन्य आत्मतत्व की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार की गई है। यह किसी ज्ञान का विषय न होकर ज्ञानस्वरूप ही है। यह सभी ज्ञानों का आधार है इसकी सत्ता स्वयंसिद्ध[3] है, क्योंकि सभी विषयों का निषेध करने पर भी निषेधकर्त्ता की सत्ता को तो मानना ही पड़ता है।[4] शंकराचार्य का शारीरक भाष्य इसी अस्मद् एवं युस्मद् के विवेक से शुरू होता है, यही अस्मद् आत्मा के नाम से पुकार जाता है। वैसे तो भारतीय दर्शन में इन्द्रियात्मवाद से लेकर शरीरात्मवाद मनात्मवाद एवं प्राणात्मवाद को भी माना गया है यहां तक कि न्याय वैशेषिक एवं मीमांसा

---

1 यागादेः कर्मणस्तथाविज्ञानवत् कर्मापेक्ष फलत्वानुपपत्तो कालान्तर फलत्वात् कर्मदेशकालनिमित्त विपाक विभाग बुद्धि संस्कारापेक्षफलं भवितुर्महति सेवादिकर्मानुरूपफलज्ञसेव्यबुद्धिसंस्कारापेक्ष फलस्येव । तस्मात् सिद्धः सर्वज्ञ ईश्वरः सर्वफलविभागसाक्षी सर्वभूतान्तरात्मा''
केनापनिषदशांकर भाष्य-3
गीताप्रेस चौदहवां संस्करण पृष्ठ-112

2 भारतीय दर्शन भाग-2 **डॉ0 राधाकृष्णन संस्करण** पृष्ठ-462

3 ''तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्। ''कठोपनिषद'' 2.2.15

4 ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य- 1.1.4

में आत्मा को अचेतन तक कहा गया है किन्तु अचेतन आत्मा एक आत्म व्याघातक कल्पना है इसीलिए उपर्युक्त मतों से भिन्न शंकराचार्य ने नित्यशाश्वत चैतन्य स्वरूप व व्यापक द्रव्य के रूप में आत्मा को स्वीकार किया है चैतन्य इसका आगन्तुक गुण नही वरन् स्वभाव है इसके लिए निम्नलिखित युक्तियां शंकराचार्य देते हैं-

संसार के सभी मनुष्यों को अपनी आत्मा के अस्तित्व की अनुभूति होती है। यह कोई अनुभव नहीं करता कि **"मैं नहीं हूं। सबको मैं हूं"** ऐसी अनुभूति होती है।[1] यदि कोई मनुष्य अपने अस्तित्व का निषेध भी करे तो भी निषेधकर्त्ता का अस्तित्व स्वत: सिद्व हो जाता है। यहां विधि एवं निषेध दोनों प्रकार से आत्मा का अस्तित्व सिद्व होता है।

प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में कम से कम तीन अवस्थाओं जाग्रत, स्वप्न एवं सुसुप्ति की अनुभूति होती है जाग्रतावस्था में मनुष्य वाह्य संसार का द्रष्टा होता है तथा सुसुप्ति में अभावात्मक अनुभूति का द्रष्टा होता है क्योंकि सुसुप्ति में दृश्य का अभाव तो माना जा सकता है किन्तु दृष्टि का अभाव नही माना जा सकता।[2] यदि सुसुप्ति में दृष्टि का अभाव

---

1 "सर्वोहि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति ।
यदि हि नात्मास्तित्व प्रसिद्विः, सर्वोलोकोनाहमस्मीति प्रतीयात्"
ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 1.1.1.

2. "पश्यतस्तव न पश्यामि इति व्याहतंवचनम्.............पश्चन्
तर्हि सुसुप्ते त्वम्, यस्मात् दृष्टमेव प्रतिषेधति न दृष्टिम् ।
या तव दृष्टिः तत् चैतन्यमितिमया प्रोक्तम्"
उपदेशसाहस्त्री 1.2.92

माना जाय तो जागने पर यह कैसे कहा जा सकता है कि "मैं खूब सोया" या "सुसुप्ति में मैंने कुछ नहीं देखा"।[1]

अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि सुसुप्ति में भी द्रष्टा (आत्मा) का अस्तित्व रहता है जो अभाव की अनुभूति करता है। यहां यह स्पष्ट है कि तीनों अवस्थाओं के द्रष्टा भिन्न-भिन्न है किन्तु तीनों द्रष्टाओं के पीछे जो आत्मा या चैतन्य की इकाई है वह एक ही है। यही कारण है कि तीनों अवस्थाओं में सम्बन्ध से इन्कार नहीं किया जा सकता है। यदि तीनों अवस्थाओं के पीछे एक नित्य आत्मा की इकाई न होती तो जाग्रत अवस्था में स्वप्न व सुसुप्ति की स्मृति न हो पाती। तीनों अवस्थाओं के द्रष्टा आत्मा की तीन अवस्थायें है जो आगन्तुक है इन तीनों का जो वास्तविक अधिष्ठान है वह आत्मा तुरीय है जो तीनों अवस्थाओं से अतीत भी है।

3. ज्ञाता एवं ज्ञान में अभेद सम्बन्ध है। ज्ञाता को ज्ञान से व ज्ञान को ज्ञाता से पृथक नहीं किया जा सकता है। यदि ज्ञाता को ज्ञान से भिन्न माना जाय तो वह ज्ञाता किसी दूसरे ज्ञाता के ज्ञान का कर्म होगा। पुनः जो प्रश्न प्रथम ज्ञाता के सम्बन्ध में उठाया गया था वही प्रश्न दूसरे ज्ञाता के सम्बन्ध में उठाया जा सकता है। क्या वह द्वितीय ज्ञाता ज्ञान से भिन्न है या अभिन्न है? यदि भिन्न है तो पुनः किसी तीसरे ज्ञाता व उसके ज्ञान की कल्पना करनी पड़ेगी जिससे अनवस्था दोष से बच पाना मुश्किल

---

1 सुखहम् अस्वाप्सम् ।

हो जायेगा। यहां एक अन्य प्रश्न भी उठ खड़ा होगा कि एक ही वस्तु ज्ञाता व ज्ञेय अथवा कर्त्ता व कर्म दोनों कैसे हो सकती है।[1] इन सब दोषों के निवारण का एक मात्र उपाय यही है कि ज्ञाता व ज्ञान को अभिन्न माना जाय। ज्ञान ज्ञाता का स्वरूप है दोनों को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता, जैसे दाहकता को अग्नि से पृथक नही किया जा सकता ।

यहां यह भी ध्यातव्य है कि जैसे ज्ञान ज्ञाता से पृथक नहीं किया जा सकत्ता उसी तरह ज्ञान ज्ञेय से भी पृथक नहीं किया जा सकता ज्ञान कभी भी ज्ञेय का साथ नहीं छोड़ता यह उसका वस्तुवादी स्वभाव है।[2]

इससे स्पष्ट हे कि आत्मा है ज्ञान जिसका स्वभाव है यदि ज्ञान का व्यभिचार असंभव है तो ज्ञाता का व्यभिचार भी असंभव है निषेध में भी आत्मा का अस्तित्व सिद्व है।[3]

(ग) नैतिक विधि

विश्व में एक नैतिक व्यवस्था हमारी आध्यात्मिक चेतना की पूर्वमान्यता है जिसे वेदों में ऋत प्रत्यय के नाम से अभिहित किया गया और जो बाद में कर्म सिद्धान्त से जुड़ जाता है। अच्छे या बुरे कर्मो का

---

1 स्वात्मीन क्रिया विरोधात् ।

2 "व्यभिचरति तु ज्ञेयं, न ज्ञानं व्यभिचरति कदाचिदपि ज्ञेयम्
ज्ञेयाभावेऽपि ज्ञयान्तरे भावाज्ज्ञानस्य"

प्रश्नोपनिषदशांकर भाष्य-6
गीताप्रेस, चौदहवां संस्करण पृष्ठ-91

3 आत्मनश्च प्रत्याख्यातुम् अशाम्यत्वात् य एव यस्य निराकर्त्ता तस्यैवात्मत्व प्रसंगात् ।
शारीरक भाष्य- 1.1.4.

फल तभी संभव है जब एक नित्य चेतन तत्व को माना जाय वरना कृत प्रणास और अकृताभ्युपशम् का प्रश्न उठ जायेगा। इस प्रकार चैतन्य के अनुसंधान की अद्वैतवादी विधियों में नैतिक युक्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। यहां आत्मानुसंधान का तात्पर्य किसी अज्ञात वस्तु की खोज न होकर अपने वास्तविक स्वरूप को जानना है जिसे हम अज्ञान वश भूल कर कर्मबन्धनों में बंध कर संसार सागर में गोते लगाते रहते हैं। आत्मतत्व का बोध ज्ञान से हो सकता है किन्तु कर्मो से मलिन चित्त आत्मतत्व का बोध नहीं कर पाता। इसलिए चितशुद्धि हेतु कामनाहीन कर्म की आवश्यकता होती है जिससे बिना किसी प्रतिबन्ध के जीव आत्म स्वरूप को जान लेता है।[1]

इस सम्बन्ध में डा0 दासगुप्त का भी विचार है कि वेदान्त अध्ययन के लिए पात्रता प्राप्ति के पूर्व काम्य एवं निषिद्ध कर्मो का त्याग तथा नित्य एवं नैमित्तिक कर्मो की चित्त शुद्धि के लिए आवश्यकता पड़ती है।

आचार्य सुरेश्वर ने भी माना कि नित्य कर्मो से धर्म की उत्पत्ति एवं पाप की हानि होती है जिससे चित्तशुद्धि से चित्त में विवेक करने की क्षमता का उदय होता जिससे मुमुक्षत्व एवं कर्मो से संयास क्रमशः उत्पन्न होते है। तदन्तर तत्त्वमसि आदि वाक्यों का अर्थ प्राप्त करने पर अविद्या का उच्छेद हो जाता है एवं साधक आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।

---

1 यो नित्य कर्म करोति तस्यफल रागादिना अकलुषीक्रियामाणमत्तः करणम् नित्यैश्च कर्माभिः सांस्क्रियमाणं विशुद्वपति ।
विशुद्वं प्रसन्नमात्मलोचनक्षमं भवति ।
भगवद्गीता शाकर भाष्य-18.10

इस प्रकार स्पष्ट है कि एकत्व का अव्यवहित अनुभव तभी प्राप्त हो सकता है जब हम दृढ़ता पूर्वक नैतिक एवं आध्यात्मिक संयम कर सके इसके लिए सत्य निष्ठापूर्वक साधना करनी पड़ेगी। इसी लिए शंकराचार्य ने विवेक-चूड़ामणि एवं उपदेश-साहस्त्री में बड़े रोचक ढंग से बताया है कि आत्मज्ञान के लिए साधक को साधन चतुष्टय से युक्त होना आवश्यक है- ये साधन निम्नलिखित है-

1. नित्या नित्यवस्तु विवेक-

नित्य एवं अनित्य का विवेक साधक को होना आवश्यक है। जो सदा वर्तमान हो एक रूप, एकरस हो वही नित्य है इसके विपरीत जो है वह अनित्य है इस प्रकार चैतन्य ही नित्य है जगत् मिथ्या है यही नित्यानित्य वस्तु विवेक है।[1] क्योंकि हमारे अनुभव की वस्तुओं में चैतन्य ही ऐसा है जिसका व्यभिचार न तो होता है न हो सकता है। इसका निराकरण नहीं किया जा सकता।[2]

2. इहामुत्रार्थभोगविराग-

इहलोक तथा परलोक में भोग की कामना साधक में नहीं होनी चाहिए ।[3] आत्मा ही श्रेष्ठ है अन्य सब वस्तुएँ आत्मा के लिए ही हैं **"आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रिय भवति"** अतः आत्म प्रेम के लिए अन्य

---

1 अपरोक्षानुभूति-5

2 ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवरूपोविनिश्चय. सोऽयंनित्यानित्यवस्तु विवेक. समुदाहृतः। विवेक चूडामणि 20, गीताप्रेस प्रथम सस्करण ।

3 ब्रह्मसूत्र शकरभाष्य 1.1.1.

प्रेम को छोड़ देना चाहिए । इस प्रकार दर्शन तथा श्रवणादि के द्वारा देह से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सम्पूर्ण अनित्य भोग पदार्थो में घृणा बुद्धि है वही वैराग्य है।[1] जो आत्मज्ञान में सहायक है।

3. **शमदमादि षट्सम्पत्–**

ज्ञान के तीसरे साधन के अन्तर्गत वस्तुत: छ: साधन है- शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधि और श्रद्वा ।

(क) **शम** से तात्पर्य मानसिक नियन्त्रण या शान्ति से है। जब तक मन चंचल रहता है अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान नही हो सकती।[2]

(ख) **दम** का अर्थ इन्द्रिय निग्रह है अर्थात सच्चे साधक के लिए आवश्यक है कि इन्द्रियों का उनके विषयों से अलग करें।[3]

(ग) **उपरति** का अर्थ विषय वासना से दूर हटना, जब इन्द्रियॉं अपने विषयों से अलग हो जाती है तो वह अवस्था उपरति होती है।

(घ) **तितिक्षा** का अर्थ सहिष्णुता है। दैहिक, दैविक, भौतिक तापों को सहज भाव से सहन करना ही तितिक्षा है।[4]

---

1 तद्वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभि: ।
देहादि ब्रह्मणर्चन्ते ह्यनित्येभोगव स्तृति । - विवेक चूडामणि-2

2 भगवद्गीता शांकर भाष्य-2.66

3 भगवद्गीता शांकर भाष्य-2.58

4 "सहनं सर्वद्दखानांतितिक्षा सा शुभामता"
अपरोक्षानुभूति-7

(ङ) **शंकाओं** का समन्वय निकालना **समाधान** है।[1]

जबकि अपरोक्षानुभूति में अपने वास्तविक लक्ष्य में चित्त की एकाग्रता को ही समाधान कहा गया है।[2]

(च) **श्रद्धा–गुरू** और शास्त्रों में आदरभाव के साथ विश्वास ही श्रद्धा है।[3]

4. **मुमुक्षत्व–**

चौथा साधन मुमुक्षत्व है। शंकराचार्य ने मुमुक्षत्व की परिभाषा करते हुए कहा है कि संसार के बन्धन से मुक्त होने की उत्कट इच्छा ही मुमुक्ष है। मुमुक्ष प्रभु होने की इच्छा है स्वतन्त्रता तथा स्वराज्य प्राप्त करने की इच्छा है अहंकारादि से लेकर देहपर्यन्त जितने अज्ञान कल्पित बन्धन हैं उनको अपने स्वरूप के ज्ञान द्वारा त्यागने की इच्छा मुमुक्षत्व है।[4]

इस प्रकार साधन चतुष्ट्य के द्वारा साधक का चित्त निर्मल हो जाता है। सारे राग द्वेष समाप्त हो जाते हैं और वह निष्काम हो स्थितिप्रज्ञ की अवस्था में पहुँच जाता है, संसार में रहते हुए भी संसार के प्रलोभनों से ठगा नहीं जाता जैसे कमल पत्र पर स्थित जल बिन्दु जल में रहते हुए

---

1 भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण–प्रो संगम लाल पाण्डेय पृष्ठ–423 द्वितीय संस्करण ।

2 चित्तैकाग्रयं तृ सल्लक्ष्ये समाधानमिति स्गृतम् ।
अपरोक्षानुभूति–8

3 "निगमाचार्य वाक्येषु भक्ति श्रद्विति विश्रुता"
अपरोक्षानुभूति–8

4 "संसार वन्धर्निमुक्ति: कथं में स्यात्कदा विभो
इति या सुदृढ़तुद्विर्वक्तव्या सा मुमुक्षता।"
अपरोक्षानुभूति–9

भी उससे अलग हो जाता है। साधक निर्मल चित्त हो स्वानुभूति रूपी विशुद्व ज्ञान में लीन हो जाता है। आत्मज्ञान या आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया विशुद्व तार्किक प्रक्रिया नही है उसके लिए व्यवहारिक प्रक्रिया की भी आवश्यकता है जिसमें साधन चतुष्ट्य का महत्व पूर्ण स्थान है जिससे निर्मलचित्त में आत्मानुभूति होती है। इस प्रकार इसे चित्त शुद्धि का साधन मात्र न मानकर विशुद्व तार्किक एवं शाब्दिक ज्ञान के व्यवहारिक प्रयोग के रूप में जानना चाहिए ।

मोक्ष शास्त्रीय विधि-

आत्मान्वेषण की मोक्ष शास्त्रीय विधि अद्वैत वेदान्त की महत्वपूर्ण देन है। इसके द्वारा साधक को आत्मतत्व का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। इसी को वेदान्त में मुक्तावस्था कहा गया है। साधक मुक्तावस्था में किसी नई चीज को प्राप्त नही करता बल्कि आत्मब्रह्मैक्य का ज्ञान प्राप्त कर लेता है जो कि उसका स्वरूप ही है जिसे वह अज्ञान वश भूल गया था। इसी अभेद ज्ञान के अभाव में वह संसार चक्र में घूमता रहता है। ब्रह्म ज्ञान से उसके सारे कर्म नष्ट हो जाते है और वह बन्धन से मुक्त हो जाता है-

भियते हृदय ग्रन्थि: छिन्दन्ते सर्वसंशया: ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।[1]

---

1 मुण्डकोपनिषद 2.2.8

इस अवस्था में साधक को यह ज्ञान हो जाता है कि आत्मा पुरुष या ईश्वर स्थूल सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों से भिन्न है अतः मैं सर्वात्मा सर्वरूप अविनाशी और अन्य सबसे भिन्न हूँ।[1] इस अवस्था में ज्ञान एवं ज्ञाता का भेद समाप्त हो जाता है अर्थात '' ब्रह्मविद् ब्रह्नैव भवति'' यहां पर वेदान्त में बताई गई अन्य विधियाँ साधन मात्र रह जाती है। इस अपरोक्ष ज्ञान के लिए वेदान्त में श्रवण, मनन, एवं निदिध्यासन के तीन सोपान बताये गये हैं।[2]

1. साधन चतुष्टय से युक्त साधक को उपनिषद् का नित्य नियमित स्वाध्याय करना चाहिए अथवा गुरू से उपनिषद् का अध्ययन करना चाहिए जब गुरू उसे ''तत्त्वमसि'' आदि आत्मब्रह्मैक्य प्रतिपादक श्रुतियों को बताता है तो उससे साधक को श्रवण होगा ।

2. साधक को श्रवण के बाद मनन करना चाहिए अर्थात युक्तियों के द्वारा ब्रह्मात्मज्ञान का प्रतिपादन करना चाहिए अर्थात् श्रुतियों के निष्कर्षो को अनुभव की कसौटी पर कसकर उसके प्रति तार्किक निष्ठा उत्पन्न करनी चाहिए।[3] वेदान्त में इस तार्किक निष्ठा के लिए अनेक विधियों का

---

1 एवं देहत्याद्वन्य आत्मापुरुष· ईश्वरः ।
सर्वात्मा सर्वस्पश्च सर्वातीतोऽहमव्ययः ।।
अपरोक्षानुभूति-4

2 वृहदारण्यकोपनिषद 3.5.1.

3 ममनं तु श्रुतस्या द्वितीय वस्तृनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनु चिन्तनम् वेदान्तसार-61

वर्णन है जिसमें अध्यारोप एवं अपवाद की विधि प्रमुख है जिसके द्वारा आत्मा पर सर्वप्रथम सांसारिक रूपों का अध्यारोप किया जाता है तदुपरान्त क्रमशः एक-एक का अपवाद किया जाता है और अन्त में आत्मा के वास्तविक स्वरूप के प्रति तार्किक निष्ठा उत्पन्न हो जाती है।

3. निदिध्यासन का अर्थ ब्रह्मात्म के स्वरूप का सतत् ध्यान करना है।[1] शंकराचार्य के अनुसार इसका बार-बार पुनरावर्तन तब तक करना चाहिए जबतक आत्मा एवं ब्रह्म की एकता का ज्ञान बिल्कुल स्पष्ट होकर मन सुदृढ़ न हो जाये।[2]

अपरोक्षानुभूति में शंकराचार्य ने निदिध्यासन के क्रमशः 15 अंग बताया है। यम, नियम, त्याग, मौन, देशकाल, आसन, मूलबन्ध, देहकी समता, नेत्रों की स्थिति, प्राणायाम्, प्रत्याहार, धारण, ध्यान एवं समाधि।[3] इन पन्द्रह अंगों के पालन से जब हम समाधि अवस्था में पहुंचते हैं तो **"मैं ब्रह्म ही हूं"** इस प्रकार का अपरोक्ष ज्ञान होता है। और वह योगिराज सब साधनों से छूट कर सिद्ध हो जाता है वही उसका स्वरूप है वह किसी एक मन एवं वाणी का विषय नहीं है।[4]

---

1 वृहदारण्यकोपनिषद शांकरभाष्य 2.4.5.

2 नित्याभ्यासादृते प्रप्तिर्न भवेत्सच्चिदात्मनः ।
तत्माद्ब्रह्य निदिध्यासेज्जिज्ञासुः श्रेयसेचिरम् ।
अपरोक्षानुभूति-101

3 अपरोक्षानुभूति-102 एवं 103

4 ततः साधननिर्मुक्तः सिद्वो भवति योगिराट ।
तत्स्वरूप न चैकस्य विषयो मनसो गिराम् ।।
अपरोक्षानुभूति-126

श्रवण मनन निदिध्यासन के क्रम के बारे में शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में कुछ मत भेद है विवरण-प्रस्थान के अनुसार तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान होता जैसे दशस्वत्वमसि के आख्यान में अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है किन्तु शब्द श्रवण के पूर्व श्रोता का मन **संस्कृत** होना चाहिए उसे मनन निदिध्यासन श्रवण के पूर्व ही किये रहना चाहिए ।

किन्तु भामती प्रस्थान में माना गया है कि श्रुति ज्ञान से जीव परमात्मा को जानता है पुनः युक्ति द्वारा उसे व्यवस्थित करता है फिर शंकारहित उस श्रुतिज्ञान का ध्यान करता है।[1] इस प्रकार श्रुति से परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता तदन्तर युक्ति एवं ध्यान द्वारा वह अपरोक्ष ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। सुरेश्वराचार्य भी श्रवण एवं मनन को आत्मसाक्षात्कार का प्रारम्भिक भाग ही मानते हैं स्याद् आचार्य शंकर का भी यही मत है। फिर भी हम चाहे मनन एवं निदिध्यायन को श्रवण पूर्वक माने या श्रवण पश्चात् किन्तु वे भी ज्ञान मार्ग के आवश्यक अंग है और इनके द्वारा आत्म ब्रह्मैक्य का अपरोक्ष ज्ञान होता है।

---

1 श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभावं गृहीत्ता युक्तिमयेन च व्यवस्थाप्यते । तस्माद् निर्विचिकित्सशाब्दज्ञान-संततिरूपासनाकर्म-सहकारिण्यविद्योच्छेद हतु. ।।
भामती 1.1.1.

अध्याय-2

शंकराचार्य का आत्मवाद

शंकराचार्य का आत्मवाद

भगवान श्री शंकराचार्य अलौकिक प्रतिभासम्पन्न महापुरूष थे। ये असाधारण विद्वता, तर्कपटुता दार्शनिक, सूक्ष्मदृष्टि, रहस्यवादी, आध्यात्मिकता, कवित्वशक्ति, धार्मिक पवित्रता, कर्तव्यनिष्ठा तथा सर्वव्यापी विवेक और वैराग्य की मूर्ति थे। इनका आविर्भाव आठवीं सदी में केरल के मालावार क्षेत्र के कालड़ी नामक स्थान पर नम्बूद्री ब्राह्मण के घर हुआ। और निर्वाण बत्तीस वर्ष की आयु में हिमालय में केदार नाथ में हुआ। ज्ञान के प्राधान्य का साग्रह प्रतिपादन करने वाले और कर्म को अविद्याजन्य मानने वाले संन्यासी आचार्य का समस्त जीवन लोकसंग्रहार्थ निष्काम कर्म को समर्पित था। उन्होंने भारतवर्ष का भ्रमण करके हिन्दू समाज को एक सूत्र में पिरोने के लिए उत्तर में बद्रीनाथ में, दक्षिण में श्रृङ्गेरी में, पूर्व में पुरी में तथा पश्चिम में द्वारका में चार पीठों की स्थापना की। बत्तीस वर्ष की अल्पायु में अपने सुप्रसिद्ध ब्रह्मसूत्रभाष्य के अतिरिक्त ग्यारह उपनिषदों पर तथा गीता पर भाष्यों की रचना करना, अन्य ग्रन्थों और अनुपम स्त्रोत साहित्य का निर्माण करना तथा वैदिक धर्म एवं दर्शन के समुद्धार प्रतिष्ठा और प्रचार के दु:साध्य कार्य को भारत में भ्रमण करते हुए, प्रतिपक्षियों को शास्त्रार्थ में पराजित करते हुए, अपने दर्शन की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए साथ ही भारत की चारों दिशाओं में चार पीठों की स्थापना करते हुए सम्पादित करना वस्तुत: अलौकिक एवं अद्वितीय है।

उपर्युक्त कारणों से उन्हें भगवान् शंकर का अवतार माना जाता है। गौडपादाचार्य के प्रशिष्य एवं गोविन्दाचार्य के शिष्य शंकराचार्य का दर्शन उनके प्रतिपाद्य ब्रह्म के समान पूर्वापरकोटिवर्ज्य और पूर्ण है।

शंकराचार्य का स्थान विश्व के सर्वोच्च दार्शनिको में है।चूँकि शंकराचार्य गौडपादाचार्य के शिष्य (प्रशिष्य) हैं। अतेव पहले हम गौडपादाचार्या के आत्मवाद पर विचार करते है।

आचार्य गौडपाद का आत्मवाद

आचार्य गौडपाद के अनुसार परमतत्व ब्रह्म या आत्मा है। यह आत्मतत्व नित्य विशुद्ध चैतन्य स्वरूप, नित्य विज्ञानस्वरूप, नित्य एवं अखण्ड आनन्द स्वरूप है। वह अतीन्द्रिय बुद्धिविकल्पातीत या निर्विकल्प, अनिर्वचनीय, अवाङ्मनोगोचर, अपरोक्षानुभूतिस्वरूप है। यह भेदप्रपञ्चातीत या निष्प्रपञ्च है। यह अविकारी, अपरिणामी, और कूटस्थ नित्य है यह अमात्र और तुरीय है। यह समस्त प्रपञ्च का अधिष्ठान है; एवं समस्त ज्ञान का अधिष्ठान होने से स्वत:सिद्व एवं स्वप्रकाश है। यह विशुद्व साक्षिचैतन्य है। यह अपनी मायाशक्ति से जगत प्रपञ्च तथा वद्व जीवों के रूप में प्रतीत होता है। विषयी ओर विषय, ज्ञाता और ज्ञेय, चेतन जीव और जडजगत् इसी आत्म तत्व के माया कल्पित आभास हैं।[1] ये सब सदसद्निर्वचनीय और मिथ्या हैं। परमार्थ में प्रपञ्चोपशम शिव अद्वैत आत्मतत्व ही सत् है प्रणव या ओङ्कार

---

1 भारतीय दर्शन- सी0 डी0 शर्मा पेज - 219 से उद्वृत ।

इसका प्रतीक हैं, और स्वयं ब्रह्मस्वरूप है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इसी आत्मा से प्रकाशित है और आत्मा उनके चार तुरीय एवं अमात्र है। जाग्रत में वाह्य विषयों का तथा मनोभावों का अनुभव होता है।[1] स्वप्न में मन:कल्पित पदार्थो का अनुभव होता है। सुषुप्ति में कोई विषय नही रहता, न वाह्य और न मानस, अत: मन अविद्या में लीन हो जाता है; इसलिए सुषुप्ति में सुख दु:ख का अनुभव नही होता।[2]

किन्तु व्यवहार में दोनों भिन्न है। जगत ज्ञेय है तथा जीव ज्ञाता है। दोनो का मिथ्यात्व उनके विज्ञानान्तर्गत होने के कारण नहीं है अपितु सदसद्निर्वचनीय होने के कारण है।

आचार्य गौडपाद का विज्ञानवाद नित्य आत्मतत्ववाद है। यह पारमार्थिक विज्ञानवाद है। व्यवहार में आचार्य को वस्तुवाद स्वीकार है। अद्वैतपरमार्थ है और द्वैत व्यवहार है। किन्तु द्वैतवादी परमार्थ तथा व्यवहार दोनों में द्वैत मानते हैं। अत: वे भेद प्रपञ्च में फँस रहे हैं।[3] और अपने-अपने मतों को सिद्ध करने के लिए परस्पर विवाद कर रहे हैं। अद्वैती का किसी से विवाद नहीं है। क्योंकि व्यवहार में उसे माया कल्पित द्वैत से कोई आपत्ति नही है। एवं परमार्थ में अद्वैत होने के कारण भेद, विकल्प और विवाद के लिए कोई स्थान नही है।[4]

---

1 गौडपादकारिका- 9.10

2. वही 9, 14

3 गौडपाद कारिका-3, 18

अद्वैत परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते।
तेषामुभयथा द्वैतं तेनाप न विरूध्यते।।

4 वही 3,17

अद्वैत में निर्विकल्पक अखण्डानन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्य प्रकाशित होता है। वहां भेद-निम्न कृपण (दीन और दयनीय) पृथग् वादों के लिए कोई स्थान नही है।[1]

अद्वैत आत्मतत्व स्वप्रकाश एवं स्वतः सिद्व है। बुद्धि ग्रहण न होने के कारण इसका **नेति-नेति** द्वारा निषेध मुख से वर्णन किया गया है। किन्तु नेति-नेति आत्मविषयक वर्णनों का निषेध करती है स्वयं आत्मतत्व का नही; क्योकि दृष्टा का कभी विपरिलोप नही होता।[2] समस्त ज्ञान के अधिष्ठान भूत आत्मतत्व निषेध असम्भव है, क्योंकि निषेधकर्ता स्वयं आत्मस्वरूप है। ओर उसकी बुद्धि द्वारा सिद्वि सूर्य को दीपक से प्रकाशित करने के समान अनावश्यक है।

किन्तु यह अज्ञान या आवरण की अवस्था जाग्रत और स्वप्न में आवरण और विक्षेप दोनो रहते है। तुरीय में शुद्व ज्ञान और आनन्द प्रकाशित होता है तुरीय में सब प्रकार के दु:खों की निवृत्ति हो जाती है; एवं (अखंड ज्ञानानन्द स्वरूप) अविकारी, सब भावों का अद्वैतरूप, स्वप्रकाश, सबका प्रभु, आत्मदेव प्रकाशित होता है।[3]

तुरीय में निद्रा, आवरण, अज्ञान एवं स्वप्न, विक्षेप और अत्यथाज्ञन सब नष्ट हो जाते हैं तथा स्वप्रकाश आत्मतत्व की अनुभूति होती है।[4]

---

1 भारतीय दर्शन-सी0 डी0 शर्मा पेज 220

2 वृहदारण्यक उपनिषद् 4,3,23; 3,9,26

3 गौडपादकारिका - 9,10 ''अद्वैत. सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभु. समृत:''

4 वही, 9, 15

अनादि माया से सोया हुआ जीव जब परार्थानुभूति में जागता है तब उसे अज, अनिद्र (अज्ञानरहित) अस्वप्न और अद्वैत (नित्यचिदान्नद स्वरूप) आत्मतत्व का साक्षात्कार होता है।[1] राग भय और क्रोध से रहित, वेदार्थ पारङ्गत मुनियों द्वारा इस निर्विकल्प प्रपञ्चोपशम अद्वय आत्मतत्व का साक्षात्कार किया जाता है।[2] यह आत्मतत्व अपनी मायाा शक्ति से जड़ जगत् के विभिन्न पदार्थो एवं चेतन बद्व जीवों के रूप में भासित होता है। इनकी वास्तविक उत्पत्ति नहीं होती, प्रतीतिमात्र होती है जो भ्रान्तिरूप है। आचार्य के अनुसार जगत् के वाह्य पदार्थ भी स्वप्न-पदार्थ एवं रज्जुसर्पादि भ्रम-पदार्थ के समान मिथ्या है। दोनों का अधिष्ठान एवं भेद द्रष्टा आत्मतत्व की है। जीव और आत्मा घटाकाश और महाकाश के समान एक ही है। जगत् और जीव दोनों आत्मा के आभास है।

उपनिषद् में आत्मवाद

आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण उपनिषदों की विरासत हैं जो परवर्ती भारतीय विचारधारा को उत्तराधिकार में प्राप्त हुई। आत्मा के स्वरूप के विषय में बुद्ध और शंकर, रामानुज, कपिल एवं पतंजली आदि दार्शनिकों के परस्पर विरोधी सिद्वान्तों का मूल उपनिषदों में प्राप्त होता है। उपनिषद् के ऋषियों ने सत्ता के विषय में दो पद्धतियों से विचार किया है- विषयपरक पद्धति और विषयी परक पद्वति। उन्होनें दूसरी पद्वति का आश्रय

---

1 वही 9, 16 अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ।।

2 वही, 2, 35

लेते हुए आत्मा की सत्ता का विवेचन किया; जो आन्तरिक जगत् का विश्लेषण करते हुए आगे बढ़ती है।

शंकराचार्य ने कठोपनिषद्भाष्य में आत्मन शब्द की व्युत्तपत्ति दिखाते हुए कहा हैं, आत्मा जगत के सारे पदार्थो में व्याप्त रहता है, सारे पदार्थ को अपनें में ग्रहण करता है, सारे पदार्थ का अनुभव करता है और उसकी सत्ता निरन्तर बनी रहती है।[1]

प्रारम्भ में आत्मा शब्द का प्रयोग सम्भवत: श्वॉस के अर्थ में होता था किन्तु कालान्तर में इस शब्द का प्रयोग किसी भी वस्तु के विशेषत: मनुष्य के सार भाग उसके अन्दर के चैतन्य के लिए किया गया। उपनिषदों में आत्मा के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप की विवेचना प्राप्त है। इनमें आत्मा को स्वप्रकाश या चेतनस्वरूप माना गया है। इनमें आत्मा का न केवल देह एवं इन्द्रियों से एकाकारता का निराकरण किया गया है, वरन् आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप को देह, इन्द्रिय मन एवं बुद्धि से परे एक विलक्षणो सत्य के रुप में स्वीकार किया गया है। इस सन्दर्भ में कठोपानिषद[2] का स्पष्ट कथन है कि मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से परे महान आत्मा है। इतना ही नहीं महत् (बुद्धि) से परे अत्यक्त है। और अत्यक्त से परे पुरूष (आत्मा) है।

---

1 डा0 राधाकृष्णन, ''भारतीय दर्शन'' भाग-1, पृष्ठ 521
जदान्पोति यदादत्ते यच्चाति विषपानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।

2 कठोपनिषद 2.18

पुरूष से परे कोई नहीं है। (इन्द्रिभ्य: परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मन: मनस्तु परा बुद्धि, बुद्धेरात्मा महान्पर: महत: परमव्यक्त अव्यक्तात्पुरुष: पर: पुरूषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति:)।

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद में भी आत्मा के चेतन स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए देह, मन, इन्द्रिय एवं बुद्धि से उसकी एकाकारता का खण्डन प्राप्त होता है। इसमे आये इन्द्रविरोचनोपारव्यान में इन्द्र को आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझाते हुए प्रजापति का कथन है कि यह न तो मनुष्य की शरीर चेतना है, न स्वप्न चेतना, और न सुषुप्ति चेतना वरन यह जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति से परे एक विलक्षण और स्वप्रकाश चेतन सत्ता है।[1] प्रजापति का कथन है कि शरीर आत्मा नहीं है। यद्यपि यह आत्मा के लिए है। स्वप्नानुभूति आत्मा नही है। यद्यपि वह आत्मा के लिए ही अर्थवान है। आत्मा को सुषुप्ति का आकारिक सिद्वान्त भी नहीं माना जा सकता। ऑख, शरीर, मानसिक अवस्थाएँ विज्ञानप्रवाह सभी आत्मा के साधन और विषय है। आत्मा ही जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति का आधार है और उससे परे भी है। आत्मा सर्वव्यापी, अर्न्तयामी और अतीत है। यह अमर, स्वयांसिद्व एवं स्वप्रकाश है। यह सभी संदेहों और निषेधों से परे है। क्योकि यह सभी निषेधों एवं संदेहों का आधार है।

कठोपनिषद के अनुसार आत्मा, मन, बुद्धि विषय अहं शरीर और इन्द्रियों का नियन्त्रक है। रथ-रूपक के माध्यम से आत्मा के स्वरूप का

---

1. छान्दोग्योपनिषद् 22/53 गीता प्रेस

समझाते हुए कठोपनिषद् की मान्यता है कि शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोर्डे है। विषय मार्ग है, अहं (जीव) भोक्ता है और आत्मा रथी है।[1]

इतना ही नही कठोपनिषद में आत्मा को अणु से भी अणुतर, महत् से भी महत्तर, शाश्वत, उत्पत्ति एवं मृत्यु से रहित कहा गया है। जो शरीर का विनाश होने पर भी अविनश्वर रहता है।[2]

माण्डूक्योपनिषद्[3] में आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप को जाग्रत स्वप्न एवं सुषुप्ति से भी परे **तुरीय'** नामक एक चतुर्थ अवस्था माना गया है। जाग्रत अवस्था में आत्मा स्थूल पदार्थो का सुखोप भोग करती है। इसमें आत्मा को वाह्य पदार्थो से पूर्ण संसार का ज्ञान होता है। और वह 'विश्व' कहलाता है। स्वप्नावस्था में आत्मा सूक्ष्म वस्तुओं का आनन्द लेती है। वह अपने लिए जाग्रतावस्था की सामग्री से नई-नई आकृतियों का निर्माण करती है और यह कहा जाता है कि आत्मा स्वेच्छया शरीर के बन्धनों से मुक्त होकर इतस्तत: भ्रमण करती है, और **तैजस'** कहलाती है सुषुप्तावस्था सभी विषयों स्थूल एवं सूक्ष्म की अवस्था है। यह स्वप्नरहित अवस्था है। जिसमें इन्द्रियों के साथ मनस् भी शान्त रहता है। इसमें वस्तुओं का भेद यहाँ तक कि ज्ञाता और ज्ञेय का भेद भी समाप्त हो जाता है, तथा यह भी कहा

---

1 आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु सारथिं विद्धि, मन प्रगहमेव च ।
इन्द्रियणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचारन् आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीपिण:।
''कठोपनिषद''

2 कठोपनिषद 1.2.20

3 माण्डूक्योपनिषद् 2.7

जाता है कि इसमें जीव कुछ समय के लिए ब्रह्म से एक हो जाता है। यह प्राज्ञ अवस्था कहलाती है। यह ब्रह्म-नन्द की छाया मात्र है। क्योंकि आत्मा को स्थायी ब्रह्मानन्द नहीं मिलता हैं । इसमें यह भी सम्भावना बनी रहती है कि इसे भ्रमवश मुर्च्छा की अवस्था समझ लिया जाय' इसीलिए मांडूक्योपनिषद आत्मा की स्वप्नरहित निद्रावस्था से भी उच्चतर अवस्था 'तुरीयावस्था' पर बल देता है, जो विशुद्व चैतन्य की अवस्था है।[1]

इसमें वाह्य एवं आभ्यन्तर किसी प्रकार के पदार्थो का ज्ञान नही होता है। सुषुप्ति की तरह इसमें भी सामान्य (चेतना का लोप) विषम विषयी का भेद समाप्त हो जाता है। कामनाओं का अभाव हो जाता है; और आनन्दानुभूति भी प्राय: वैसी ही रहती है।

किन्तु इसमें आत्मा अपने को पूर्णरूपेण अभिव्यक्त कर देता है। इसके विपरीत सुषुप्ति में इसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त धुँधली होती है। यह एक गूढ़ अवस्था है जिसका अनुभव केवल योगिक शक्तिसम्पन्न व्यक्ति को ही हो सकता है। यह तुरीय, चतुर्थ या अपरिमेय अवस्था है। यह चतुर्थ अवस्था वह नही है जो विषयी का ज्ञान रखती है वह भी नहीं है जो दोनों से अभिन्न है। यह वह न तो विशुद्व चेतना का स्वरूप है न तो पूर्ण चेतना का विशिष्ट पुंज है और न निविड अन्धकार है। यह अदृष्ट सर्वातिशायी, अज्ञेय, अनुमानातीत अचिन्त्य अव्याख्येय है। यह आत्मचेतना का मूल तत्व है। संसार का पूर्णत्व है, जो सदा शान्तिमय सर्वथा आनन्दमय

---

1 भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा (अभिमन्यु प्रकाशन) डा0 आर0 एम0 पाठक।

एकमात्र इकाई है। औंकार इसका उपलक्षण है। जो 'अ'-'उ-'म' से बना है। जो तीन अवस्थाओं जाग्रत स्वप्न एवं सुषुप्ति को उपलक्षित करता है। यह तीनों अवस्था का सामान्य आधार है। यह समस्त प्रपञ्च का अधिष्ठान होते हुए भी प्रपंचोपशम, शान्त, शिव एवं अद्वैत तत्व है।[1]

वृहदारण्यकोपानिषद् में पुरूष (आत्मा) को असंग अर्थात्, अनियन्त्रित (कारण-कार्य सम्बन्ध से मुक्त) माना गया है। अन्ततः उपनिषदों में ब्रह्म एवं आत्मा में एकरूपता होने के कारण आत्मा में ब्रह्म के भी गुणों का समावेश होना स्वाभाविक है।[2]

उपनिषदों के आत्मवाद का प्रभाव शंकराचार्य के आत्मवाद पर भी पड़ा है। क्योंकि आचार्यशंकर ने अपने दर्शन का शुभारम्भ उपनिषद से ही शुरू किया है।

शंकराचार्य का आत्मवाद

अद्वैत वेदान्त में आत्मा एवं ब्रह्म एक ही सत्ता के पृथक-पृथक नाम हैं। उन्होंने उपनिषद् के ऋषियों की परम्परा का अनुसरण करते हुए आत्मा एवं ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन किया। शंकर के अनुसार सब के आत्मतत्व के रूप में ब्रह्म का अस्तित्व प्रसिद्ध है।[3] एक अन्य स्थान पर

---

1 भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा (अभिमन्यु प्रकाशन) डा0 आर0 एम0 पाठक।

2 बृहदारण्यकोपनिषद 3.20

3 ''सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धि ''
ब्रह्मसूत्र भाष्य 1.1.1.

उन्होंने दिखाया है कि आत्मा के बिना सभी वस्तुएँ अग्रहीत होने के कारण आत्मा ही सब कुछ है।[1]

'अयमात्मा ब्रह्म' यह श्रुति भी आत्मा एवं ब्रह्म को एक ही मानती है। उन्होनें सर्वत्र यह प्रतिपादित किया कि वस्तुतः एक ही तत्व है, और वह ब्रह्म या आत्मा हैं (आत्मा च ब्रह्म)। संसार में दृष्टिगत होने वाला विषय-विषयी में भेद, ज्ञाता-ज्ञेय में भेद, जीव और ईश्वर में भेद, सब माया की सृष्टि है; और मिथ्या हैं वास्तव में जीव के सारतत्व की दृष्टि से विचार करने पर उस एकमात्र तत्व को आत्मा कहते है; और वाह्य जगत् के आधारभूत तत्व की दृष्टि से उसे ब्रह्म कहते हैं।

शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र-भाष्य की प्रस्तावना में प्रश्न उठाते है कि अनुभव का आधारभूत तत्व क्या है? वे इस सन्दर्भ में इन्द्रिय, मन, बुद्धि शरीर आदि की परीक्षा करते हुए शुद्ध चैतन्य आत्मतत्व को अनुभव की आधारभूत वस्तु घोषित करते हैं। शंकराचार्य की दृष्टि में आत्मा का स्वरूप अन्यान्य भारतीय दर्शनों के आत्मविचार से भिन्न है। वे आत्मा के स्वरूप के विषय में अन्यान्य भारतीय विचारधाराओं के सिद्धान्तों का खण्डन करते हैं। उल्लेखनीय है कि भौतिकवादी चेतन शरीर या चेतन इन्द्रियों को आत्मा कहते हैं।[2]

---

1 आत्मा व्यतिरेकेण अग्रहणात् आत्मैव सर्वम्।
वृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य 2.4.6

2 भारतीय दर्शन (आलोचन एव अनुशीलन)
सी0 डी0 शर्मा पेज 246 से उद्धृत ।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार शरीर और इन्द्रियों के साथ आत्मा का तादात्म्य नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर विकारवान और इन्द्रियों विकल हैं। यदि शरीर और इन्द्रियों को आत्मा स्वीकार करें तो आत्मा को शरीर और इन्द्रियों के दोष से दूषित होना पड़ेगा। मन भी आत्मा नहीं है, क्योंकि वह भी विकारवान है। आत्मा को क्षणिक विज्ञानों का प्रवाहमात्र मानने पर आत्मा की इकाई खण्डित होती है; परिणामतः समृति एवं प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या नहीं हो पाती। आत्मा को शून्य कहना भी असंगत है; क्योंकि यदि सम्पूर्ण जगत् को शून्य कहे तो भी शून्यता अपने बोध को ग्रहण करने वाली की प्राक्कल्पना पर लेती है। अर्थात् आत्मा की सत्ता निषेध से परे है। शंकर के अनुसार आत्मा एवं चेतना में द्रव्य गुण सम्बन्ध भी सम्भव नहीं है; क्योंकि यह भेद दृष्टि पर आधारित है। दोनों में द्रव्य, गुण सम्बन्ध तभी हो सकता है जब वे परस्पर भिन्न हों। यदि दोनों एक समान स्वीकार करें तो यह कहना निरर्थक है कि एक दूसरे का गुण है। पुनः यदि आत्मा और चेतना परस्पर भिन्न है तो प्रश्न यह है कि उनमें क्या सम्बन्ध हैं या तो इनमें संयोग सम्बन्ध है या समवाय। दोनों में संयोग संबन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यह सम्बन्ध दो भौतिक पदार्थों में होता है। और आत्मा एवं चेतना भौतिक पदार्थ नही है। इनमें समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होने के लिए इस सम्बन्ध को आत्मा से सम्बद्ध होना चाहिये और इस दूसरे सम्बन्ध को भी आत्मा से सम्बद्ध होना चाहिये। इस प्रकार इसका कही अन्त नही होगा। इस प्रकार आत्मा और चेतना के परस्पर भिन्न होने पर द्रव्य गुण सम्बन्ध विचार के परे है। शंकराचार्य के अनुसार इस प्रकार वास्तव में आत्मा चेतनस्वरूप ही हो सकता है।[1]

---

1 'भारतीय दर्शन की सभीक्षात्मक रूपरेखा'
(अभिमन्यु प्रकाशन) से उद्धृत
डॉ0 आर0 एम0 पाठक ।

आत्म-ज्ञान की विधि

ब्रह्म (आत्मा) प्रतिबोध-विदित है-

'प्रतिबोध-विदितम्' यानी जो बोध-बोध के प्रति विदित होता है। यहाँ बोध शब्द से बुद्धि से होने वाली प्रतीतियों (ज्ञानों) का कथन हुआ है। अतः समस्त प्रतीतियाँ जिसकी विषय होती हैं वह आत्मा समस्त बोधों के समय जाना जाता है। सम्पूर्ण प्रतीतियों का साक्षी और चिच्छक्ति (चिद्+शक्ति) स्वरूप मात्र होने के कारण वह प्रतीतियों द्वारा सामान्य रूप से प्रतीतियों में ही लक्षित होता है। उस अन्तरात्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोई और मार्ग नहीं है।[1]

अतः जिस समय ब्रह्म को प्रतीतियों के अन्तःसाक्षी स्वरूप से जाना जाता है उसी समय वह ज्ञात होता है, अर्थात् यही उसका सम्यक् ज्ञान होता है। सम्पूर्ण प्रतीतियों का साक्षी होने पर ही उसका वृद्धिक्षयशून्य साक्षित्व, नित्यत्व-विशुद्ध स्वरूपत्व, आत्मत्व, निर्विशेषत्व और सम्पूर्ण भूतों में (अनुस्यूत) एकत्व सिद्ध हो सकता है। जिस प्रकार कि लक्षणों में भेद न होने के कारण घर, पर्वत, गुहादि में आकाश का अभेद है। इस प्रकार **''ब्रह्म विदित और अविदित दोनों ही से भिन्न है''**। इस शास्त्र वचन के अर्थ का ही भली प्रकार शोधन करके यहां उपसंहार किया गया है। इसके सिवा ''वह दृष्टि का द्रष्टा है, श्रवण का श्रोता है। मति का मनन

---

1 ''प्रतिबोध विदितम्' यतममृतत्व हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्य विद्याया विन्दतेऽमृतम्।।''
केनोपनिषद् (द्वितीय खण्ड) 4, पेज 99

करने वाला है। और विज्ञाति का विज्ञाता है। ऐसी एक दूसरी श्रुति भी है। [उससे भी यही सिद्ध होता है।][1]

जिस प्रकार जो वृक्ष की शाखाओं को चलायमान करता है, उसे वायु कहते हैं। उसी प्रकार जिस समय 'प्रतिबोध विदितम्' इसका ऐसा अर्थ किया जाता है कि आत्मा बोधक्रिया का कर्ता है, अतः बोधक्रिया रूप लिंग से कर्ता को जानता है। **इसलिए बोध रूप से विदित होने के कारण वह 'प्रतिबोधविदितम्' कहलाता है।**

उस समय आत्मा बोध क्रिया-रूप शक्ति से युक्त एक द्रव्य सिद्ध होता है, साक्षात् बोध स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता। बोध (वुद्धिगत प्रतीति) तो उत्पन्न होता है; और नष्ट भी हो जाता है। अतः जिस समय बोध उत्पन्न होता है, उस समय तो वह बोध क्रिया विशेषण से युक्त होता है। और जब उसका नाश हो जाता है तो वह निर्विशेष द्रव्य मात्र रह जाता है। ऐसा मानने से तो वह विकारी सावयव, अनित्य और अशुद्ध निश्चित होता है; और उसके इन दोषों का किसी प्रकार परिहार नहीं किया जा सकता।[2]

फिर वैशेषिक् मतावलम्वियों का जो मत है कि आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होने वाला बोध आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहता है, इसी से आत्मा में वोद्धृत्व है, वस्तुतः आत्मा विकारी नहीं है, वह तो नील पीतादि वर्णो के समवायी घट के समान केवल द्रव्य मात्र है। सो इस पक्ष में भी ब्रह्म अचेतन द्रव्यमात्र सिद्ध होता है। और ''ब्रह्म विज्ञान और आनन्द

---

1 मूलशांकर वेदान्त (श्रुतिप्रस्थान) पेज न0 149 से उद्धुत ।
प्रो0 संगम लाल पाण्डेय ।

2 केनोपनिषद् भाष्य (पद भाष्य) पेज नं. 101 ।

स्वरूप है", "प्रज्ञान ब्रह्म है", इत्यादि श्रुतियाँ बाधित हो जाती हैं। निरवयव होने के कारण आत्मा में कोई देश-विशेष नहीं है। और उससे मन का नित्य संयोग है। इस कारण उसमें स्मृति की उत्पत्ति के नियम की अनुपपत्ति अनिवार्य हो जाती है। तथा श्रुति, स्मृति और युक्ति से विरुद्ध आत्मा के संसर्ग-धर्मी होने की कल्पना भी होती है। "असंग (आत्मा) का किसी से संग नहीं होता"। "संग रहित सबका पालन करने वाला है", ऐसी श्रुति और स्मृति प्रसिद्ध है। युक्ति से भी जो वस्तु सगुण होती है उसी का गुणवान् से संसर्ग होता है। विजातीय वस्तुओं का संसर्ग कभी नहीं होता है। अतः निर्गुण निर्विशेष और सब से विलक्षण आत्मा का किसी भी विजातीय वस्तु से संयोग होता है; ऐसा मानना न्याय विरुद्ध होगा।[1]

अतः नित्य अविनाशी, ज्ञान-स्वरूप प्रकाशमय आत्मा ही ब्रह्म है- यह अर्थ आत्मा के सम्पूर्ण बोधों के बोद्धा होने पर ही सिद्ध हो सकता है और किसी प्रकार नहीं।[2]

इसके सिवा 'प्रतिबोध विदितम्' इस वाक्य का जो स्वप्रकाशता अर्थ बतलाया जाता है वहां आत्मा को सोपाधिक मानकर उसमें बुद्धि आदि उपाधि के रूप से भेद की कल्पना कर आत्मा से आत्मा को जानता है। ऐसा व्यवहार हुआ करता है, जैसा कि "आत्मा में ही आत्मा को देखता है," "हे पुरूषोत्तम तुम स्वयं अपने से ही अपने को जानते

---

1 मूल शांकर वेदान्त (श्रुतिप्रस्थान)
प्रो0 संगम लाल पाण्डेय । पेज नं0 149

2 केनोपनिषद भाष्य - 4-101

हो" इत्यादि वाक्यों द्वारा कहा गया है। किन्तु निरूपाधिक आत्मा के तो एक रूप होने के कारण उसमें, स्वसंवेद्यता अथवा पर संवेद्यता संभव ही नहीं है। जिस प्रकार प्रकाश को किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा होना संभव नहीं है। उसी प्रकार ज्ञान-स्वरूप होने के कारण उसे [अपने ज्ञान के लिए] किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं है।

पुनः बौद्ध मतानुसार तो विज्ञान की स्वसंवेद्यता स्वीकार करने पर भी उसकी क्षणभंगुरता और निरात्मकता सिद्ध होने लगेगी। (ऐसा होने पर) अविनाशी होने के कारण विज्ञाता की विज्ञाप्ति का लोप नहीं होता; नित्य विभु और सर्वगत है। इत्यादि श्रुतियाँ बाधित हो जायेंगी।[1]

इसके सिवा जो लोग प्रतिबोध शब्द से, जैसा कि सुषुप्त पुरुष को होता है वह निर्मित बोध ही प्रतिबोध है। ऐसे अर्थ की कल्पना करते हैं अथवा जो दूसरे लोग (मुक्ति के कारणभूत) एक बार होने वाले विज्ञान को ही प्रतिबोध समझते हैं (वे कुछ भी माना करें) बिना निमित्त से हो अथवाा निमित्त से तथा एक बार हो अथवा अनेक बार वह सबका सब प्रतिरोध ही है।[2]

क्योंकि मुमुक्षगण उपर्युक्त प्रतिरोध से अर्थात् प्रत्येक बौद्ध प्रत्यय से होने वाले आत्म ज्ञान से ही अमृतत्व-अमरण भाव अर्थात् अपने आत्मा

---

1 "नित्यं विभुं सर्वगतम्"
वृ० उ० 4/3/30 तथा मु० उ० 1

2 "स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभय:"
वृहदारण्यकोपनिषद् 4/4/24

में स्थिति होना रूप मोक्ष प्राप्त करते हैं। अतः वह (ब्रह्म) प्रत्येक बोध में अनुभव होने वाला ही माना गया है ऐसा इसका अभिप्राय है। आत्मा की अनात्मरूपता उसके अमरत्व का कारण नहीं हो सकती। आत्मा का अमरत्व उसका स्वरूप भूत होने के कारण अहेतुक ही हैं उसी प्रकार आत्मा की मृत्यु भी अविद्या वश उसमें अनात्म तत्व की उपलब्धि ही है[1]

तो फिर उपर्युक्त आत्मज्ञान से किस प्रकार अमरत्व लाभ कर लेता है? इस पर कहते हैं मुमुक्ष पुरूष आत्मा अर्थात अपने स्वरूप के ज्ञान से वीर्य बल यानी अमरत्व प्राप्ति का सामर्थ्य प्राप्त करता है। धन, साहस, मन्त्र औषधि तप और योग से प्राप्त होने वाला वीर्य अनित्य वस्तु का किया हुआ होने से मृत्यु का पराभव करने में समर्थ नहीं हैं। किन्तु आत्मविद्या से होने वाला वीर्य तो आत्मा द्वारा ही प्राप्त किया जाता है, अन्य किसी से नहीं।[2]

इसलिए आत्मविद्या जनित वीर्य किसी अन्य साधन से प्राप्त होने वाला नहीं है, अतः वही वीर्य मृत्यु का पराभव कर सकता है। क्योंकि ममुक्ष पुरूष इस प्रकार आत्माविद्या जनित वीर्य को आत्मा द्वारा ही प्राप्त करता है। इसलिए आत्म संम्बधित विद्या से ही अमरत्व प्राप्त करता है। अथर्वक्षेदीप मुण्डक उपनिषद में कहा है'' यह आत्मा अलहीन पुरूष को प्राप्त होने योग्य नहीं है।'' अतः यह आत्म विद्या रूप हेतु (मृत्यु का निवारण करने में) समर्थ है। क्योकि इससे अमरत्व प्राप्त होता है ।

---

1 कनोपनिषद भाग्य पेज-102

2 वही- पेज 103

आत्मा का स्वरूप

उससे उस (पिप्पलादाचार्य) ने कहा हे सौम्य! उस पुरूष को यहीं-इस शरीर के भीतर हृदय पुण्डरीकाकाश में ही जानना चाहिये- किसी अन्य देश (स्थान) में नहीं; जिस (पुरूष) में आगे कही जाने वाली प्राण आदि सोलह कलाओं का प्रादुर्भाव होता है। अर्थात् जिससे ये उत्पन्न होती हैं।[1] इन उपाधिभूत सोलह कलाओं के कारण वह पुरूष कलाहीन होकर भी अविद्या बस कलावान सा दिखलाई देता है। उन औपाधिक कलाओं के अध्यारोप की विद्या से निवृत्ति करके उस पुरूष को शुद्ध दिखलाना है, इसलिए प्राणादि कलाओं को उसी से उत्पन्न होने वाली कहा है, क्योंकि अत्यन्त निर्विशेष, अद्वय और विशुद्ध तत्व में अध्यारोप के बिना प्रतिपाद्य प्रतिपादन आदि कोई व्यवहार नहीं किया जा सकता। इसलिए उसमें कलाओं के अविद्या विषयक उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का आरोप किया जाता है, क्योंकि ये कलाएँ चैतन्य से अभिन्न रहकर ही सर्वदा उत्पन्न, स्थित तथा लीन होती देखी जाती हैं। इसी से कुछ भ्रान्त पुरूषों का मत है कि ''अग्नि के संयोग से घृत के समान चैतन्य ही प्रत्येक क्षण में घट आदि आकारों में उत्पन्न और नष्ट हो रहा है।[2]

इससे भिन्न दूसरे (शून्यवादियों) का मत है इनका निरोध हो जाने पर सब कुछ शून्य हो जाता है। तथा अन्य (नैयायिक) कहते हैं कि

---

1 प्रश्नोपनिषद भाष्य 4.6.32

2 मूल शांकर वेदान्त - 'श्रुतिप्रस्थान' पेज-153 से उद्धृत ।
प्रो0 एस0 एल0 पाण्डेय ।

चेतयिता नित्य आत्मा की घटादि को विषय करने वाली अनित्य चेतनता उत्पन्न और नष्ट होती रहती है। तथा लोकायतिकों (देहात्मवादियों) का कथन है कि **"चेतनता भूतों का धर्म है"**। परन्तु **"सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म" "प्रज्ञानं ब्रह्म"** सिद्ध होता है कि उत्पत्ति नाश रूप धर्म से रहित चेतन ही आत्मा है वही नाम रूप आदि औपाधिक धर्मों से युक्त भास रहा है। अपने स्वरूप से व्यभिचारी (बदलने वाले) पदार्थों में चैतन्य का व्यभिचार (परिवर्तन) न होने के कारण जो पदार्थ जिस प्रकार जाना जाता है उससे उस प्रकार जानने के कारण ही उस पदार्थ के चैतन्य का अव्यभिचार सिद्ध होता है।[1]

कोई वस्तु तत्व है तो सही किन्तु जाना नही जाता ऐसा कहना तो **"रूप तो दिखाई देता है परन्तु नेत्र नहीं है"** इस कथन के समान अयुक्त ही है। ज्ञेय का तो ज्ञान में व्यभिचार होता है, किन्तु ज्ञान का ज्ञेय में कभी व्यभिचार नहीं होता। क्योंकि एक ज्ञेय का अभाव होने पर भी ज्ञेयान्तर में ज्ञान का सद्भाव रहता ही है। ज्ञान के अभाव में तो ज्ञेय किसी के लिए रहता ही नही, जैसा कि सुषुप्ति में उनका अभाव देखा जाता है।[2]

मध्यस्थः– सुषुप्ति में तो ज्ञान का भी अभाव है अतः उस समय ज्ञेय के समान ज्ञान के स्वरूप का व्यभिचार होता है?

---

1 वही – पेज नं0 153

2 प्रश्नोपनिषद भाष्य – 4.6.24

सिद्धान्तीः- ऐसा कहना ठीक नहीं है। ज्ञेय का अवभासक ज्ञान प्रकाश के समान ज्ञेय की अभिव्यक्ति का कारण है। अतः प्रकाश्य वस्तुओं के अभाव में जिस प्रकार प्रकाश का अभाव नही माना जाता उसी प्रकार सुषुप्ति में वस्तुओं की प्रतीति न होने से विज्ञान का अभाव मानना ठीक नहीं है। अन्धकार में रूप की उपलब्धि न होने पर वैनाशिक (क्षणिक विज्ञानवादी) भी नेत्र के अभाव की कल्पना नहीं कर सकता।

मध्यस्थः- परन्तु वैनाशिक तो ज्ञेय के अभाव में ज्ञान के अभाव की कल्पना करता ही है।

सिद्धान्तीः- उस वैनाशिक को यह बतलाना चाहिए कि जिस (ज्ञान) से ज्ञेय के अभाव की कल्पना की जाती है, उसका अभाव किससे कल्पित किया जाता है? क्योंकि उस (ज्ञान) का अभाव भी ज्ञेय-रूप होने के कारण बिना ज्ञान के सिद्ध नहीं हो सकता।

मध्यस्थः- ज्ञान ज्ञेय से अभिन्न है, इसलिए ज्ञेय के अभाव में ज्ञान का भी अभाव हो जाता है-ऐसा माने तो ?

सिद्धान्तीः- ऐसी बात नहीं है क्योंकि अभाव भी ज्ञेय रूप माना गया है। वैनाशिक ने अभाव को भी ज्ञेय और नित्य स्वीकार किया है। यदि ज्ञान उससे (ज्ञेय से) अभिन्न है तो वह (उनके मत में भी) नित्य मान लिया जाता है।[1]

---

1 मूलशांकर वेदान्त - श्रुतिप्रस्थान (प्रश्नोपनिषद भाष्य)
प्रो0 एस0 एल0 पाण्डेय । पेज नं. 154

अभेदवादः- जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाले असंसारी सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ ने अपने से भिन्न किसी अन्य वस्तु को ग्रहण किये बिना ही इस सम्पूर्ण जगत् की आकाशादि क्रम में रचना कर अपने को स्वयं ही जानने के लिए सम्पूर्ण प्राणादियुक्त शरीर में स्वयं ही प्रवेश किया। और प्रवेश करके **"मैं यह ब्रह्म हूँ"** इस प्रकार अपने यथार्थ स्वरूप का साक्षात् बोध प्राप्त किया। अतः समस्त शरीर में एक मात्र वही आत्मा है। उससे भिन्न नहीं। [इसके सिवा 'सम्पूर्ण भूतों में'] जो सम आत्मा ब्रह्म है वह मैं हूँ- ऐसा जानों, **"निश्चय पहले एक आत्मा ही था तथा (उसने) ब्रह्म को (आकाश के समान) अतिशय व्याप्त जाना।।"** ऐसा भी कहा है और (ऐसा ही) अन्य उपनिषदों में भी कहा है।[1]

पूर्वपक्षीः- उस सर्वगत सर्वात्मा के लिए बाल का अग्रभाग भी अप्रविष्ट नहीं है, फिर वह चींटी के बिल-प्रवेश के समान मूर्ध सीमा को विदीर्ण कर किसी प्रकार मनुष्य शरीर में प्रविष्ट हुआ?

सिद्धान्तीः- तुम्हारा यह प्रश्न तो अल्प है। अभी तो उपर्युक्त कथन में बहुत कुछ पूछने योग्य बाते हैं। उसने इन्द्रियहीन होकर भी ईक्षण किया। किसी उपादान के लिए भी लोकों की रचना की। जल में से पुरुष निकालकर उसे अवयव योजना द्वारा पुष्ट किया। अभिध्यान के द्वारा उसका मुख प्रकट हुआ तथा मुखादि से अग्नि आदि लोकपाल प्रकट हुए। उनका

---

1. ऐतरेय उपनिषद् - भाष्य 'प्रथम खण्ड' पेज-83

क्षुधा पिपासादि से संयोग कराना, उनके आयतन के लिए प्रार्थना करना, उनके लिए गौ आदि दिखलाना, उन देवताओं का अपने-अपने अनुकूल आयतनों में प्रवेश करना, उत्पन्न हुए अन्य का भोगना और उसे वाक् आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने की इच्छा करना ये सब बातें भी सीमा विदीर्ण करने और शरीर में प्रवेश करने के समान ही आश्चर्यजनक है।[1]

ऐतरेयोपनिषद् में आत्मा सम्बन्धी अनेकानेक प्रश्न पूछे गये हैं, द्रष्टव्य है-

हम जिसकी उपासना करते है वह यह आत्मा कौन है? जिससे (प्राणी) देखता है सुनता है, जिससे गन्धों को सूँघता है, जिससे वाणी का विश्लेषण करता है, और जिससे खादु - अखादु का ज्ञान प्राप्त करता है वह [श्रुतिकथित दो आत्माओं में से] कौन सा आत्मा है?[2]

हम जिस आत्मा की **''यह आत्मा है''**, इस प्रकार साक्षात् उपासना करते हैं वह आत्मा कौन है? तथा जिस आत्मा की 'यह आत्मा है; इस प्रकार की साक्षात् उपासना करने वाले वामदेव अमर हो गया था उसी आत्मा की हम उपासना करते हैं। किन्तु वस्तुतः वह आत्मा है कौन सा?

इस प्रकार जिज्ञासा पूर्वक एक दूसरे से प्रश्न करते हुए उन्हें आत्म सम्बन्धी विशेष विवरण से युक्त पूर्वोक्त श्रुति के संस्कार से यह स्मृति पैदा हुई। ''इस पुरूष में ब्रह्म पादाग्र भाग द्वारा प्रविष्ट हुआ तथा

---

1 ऐतरेप उपनिषद् - भाष्य 'प्रथम खण्ड'
आत्मा सम्बन्धी प्रश्न - पेज-84

2 ऐतरेप उपनिषद् - 'प्रथम खण्ड' आत्मा सम्बन्धी प्रश्न।

इसी पुरूष में वह इस सीमा को ही विदीर्णकर इसके द्वारा प्राप्त हुआ। इस प्रकार यहां एक दूसरे से प्रतिकूल दो ब्रह्म ज्ञात होते हैं, और वे इस पिण्ड के आत्म-स्वरूप हैं। इनमें से कोई एक ही आत्मा उपासनीय हो सकता है। इनमें जो उपासनीय है वह आत्मा कौन सा है? इस विशेष बात को निश्चय करने के लिए उन्होंने आपस में विचार करते हुए एक दूसरे से फिर पूछा।[1]

फिर आपस में विचार करने वाले उन मुमुक्षुओं कों अपने विचारणीय विशेष विषय के सन्दर्भ में यह बुद्धि पैदा हुई। उसे बतलाते हैं इस पिण्ड में दो वस्तुएं उपलब्ध होती है- एक तो जिस चक्षु आदि अनेक प्रकार के भेदों से विभिन्न साधन द्वारा (पुरूष विषयों को) उपलब्ध कराता हैं और दूसरा जो उपलब्ध किया करता है। क्योंकि वह भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध हुए विषयों की स्मृति का अनुसंधान करता है।[2]

उपलब्ध साधन: -

नेत्र के साथ एकीभूत हुए जिस आत्मा से वह रूप को देखता है, जिस श्रोतभावापन के द्वारा वह शब्द श्रवण करता है, जिस घ्राणेन्द्रियभूत से वह गन्धो को सुघंता है, जिस वागिन्द्रिय भूत से वह गौ-अश्व इत्यादि नामात्मिका तथा साधु-असाधु वाणी का विश्लेषण करता है, और जिस रसनेन्द्रिय भूत से वह खादु-अखादु पद्घार्थो को जानता है।[3]

---

1 वही - आत्मा सम्बन्धी प्रश्न

2 वही - आत्मा सम्बन्धी प्रश्न

3 "प्राणन्नेव प्राणों नाम भवति"
वृहदारण्यकोपनिषद् (1/4/7)

प्रज्ञान की सर्वरूपता

यह (प्रज्ञान रूप आत्मा) ही ब्रह्म है; यही इन्द्र है, यही प्रजापति है, यही ये (अग्निआदि) सारे देव तथा पृथिवी, वायु, आकाश, जल और तेज ये पांच भूत हैं, यही क्षुद्र जीवों के सहित उनके बीज (कारण) और अन्य अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज, अश्व, गौ, मनुष्य एवं हाथी है, तथा (इनके अतिरिक्त) जो कुछ भी यह जंङ्गम (पैर से चलने वाले) पतत्रि (आकाश में उड़ने वाले) और स्थावर (वृक्ष पर्वत आदि) रूप प्राणिवर्ग है वह सब प्रज्ञानेत्र और प्रज्ञान में ही स्थित हैं। लोक प्रज्ञानेत्र (प्रज्ञा-चैतन्य ही जिसका नेत्र-व्यवहार का कारण है ऐसा) है, प्रज्ञा ही उसका लय स्थान है, अतः प्रज्ञान ही ब्रह्म हैं।[1]

वह यह प्रज्ञान रूप आत्मा ही अपरब्रह्म है। अर्थात् सम्पूर्ण शरीरों में स्थित प्राण-प्रज्ञात्मा हैं। विभिन्न जलपात्रों में पड़े हुए प्रतिबिम्व के समान यही अन्तःकरण रूप उपाधियों में अनुप्रविष्ट हिरण्यगर्भ-प्राण, पानी प्रज्ञात्मा है। यही ('इदम् दर्शनम्' इस स्तुति में बतलाये हुए) गुण के कारण इन्द्र अथवा देवराज है। यही प्रजापति है जो सबसे पहले उत्पन्न हुआ देवधारी है। जिससे मुखादिनिर्भेद के द्वारा अग्नि आदि लोकपाल उत्पन्न हुए है, वह प्रजापति भी यही है। और भी ये जो अग्नि आदि सम्पूर्ण देवता हैं वे भी यही हैं।[2]

---

1 ऐतरेयोपनिषद् 4- अध्याय-3 पेज-99

2 वही-5

आत्मदर्शन का स्थान: -

जिस प्रकार लोक दर्पण में प्रतिविम्बित हुए अपने आप को स्पष्टतया देखता है, उसी प्रकार दर्पण के समान निर्मल हुई अपनी बुद्धि में आत्मा का स्पष्ट दर्शन होता है- ऐसा इसका अभिप्राय है।

जिस प्रकार स्वप्न में जाग्रद्वासनाओं से प्रकट हुआ दर्शन स्पष्ट होता है, उसी प्रकार पितृलोक में भी अस्पष्ट आत्म दर्शन होता है। क्योंकि वहां जीव कर्मफल के योग में आसक्त रहता है। तथा जिस प्रकार जल में अपना स्वरूप ऐसा दिखलाई देता है, मानों उसके अवयव विभक्त 'न हो', उसी प्रकार गन्धर्व लोक में भी अस्पष्ट रूप से आत्मा का दर्शन होता है। अन्य लोकों में भी शास्त्र प्रमाण से ऐसा ही (अर्थात् अस्पष्ट आत्म-दर्शन ही) माना जाता है कि एकमात्र ब्रह्मलोक में ही छाया और प्रकाश के समान वह आत्म-दर्शन अत्यन्त स्पष्टतया होता है। किन्तु अत्यन्त विशिष्ट कर्म और ज्ञान से साध्य होने के कारण वह ब्रह्म लोक तो बड़ा दुष्प्राप्य है। अत: अभिप्राय यह है कि इस मनुष्य लोक में ही आत्म-दर्शन के लिए प्रयत्न करना चाहिए।[1]

आत्मोपलब्धि का साधन सद्बुद्धि है:- तात्पर्य यह है कि ब्रह्म न तो वाणी से न मन से न नेत्र से, और न अन्य इन्द्रियों से ही प्राप्त किया जा सकता है। तथापि सर्वविशेष रहित होने पर भी "वह जगत् का मूल है।" इस प्रकार ज्ञात होने के कारण वह है ही, क्योंकि कार्य का विलय किसी अस्तित्व के आश्रय से ही हो सकता है। इसी प्रकार सूक्ष्मता

1 कठोपनिषद भाष्य - 5 (गीता प्रेस) ।

की तारतम्य परम्परा से अनुगत होने वाला यह सम्पूर्ण कार्य वर्ग भी सद्बुद्धि निष्ठा को ही सूचित करता है।[1]

जिस समय विषय का विलय करते हुए वुद्धि का विलय किया जाता है उस समय भी वह सद्वृत्तिगर्भिता हुई ही लीन होती है, तथा सत् और असत् का यथार्थ स्वरूप जानने में तो हमारे लिए बुद्धि ही प्रमाण है।[2]

यदि जगत् का कोई मूल न होता तो यह सम्पूर्ण कार्यवर्ग असमय ही होने के कारण 'असत्' है, इस प्रकार गृहीत होता। किन्तु ऐसी बात नहीं है। यह जगत तो 'है-ही' इस प्रकार ही गृहीत होता है कि जिस प्रकार मृत्तिका आदि के कार्य घटादि (अपने कारण) मृत्तिका आदि से समन्वित ही गृहीत होते हैं। अत: जगत का मूल 'आत्मा' है, इस प्रकार उपलब्ध किया जाना चाहिए। क्योंकि आत्मा है इस प्रकार कहने वाले शास्त्रार्थनुसारी श्रद्वालु आस्तिक पुरूषों से भिन्न नास्तिक वादियों को जो ऐसा मानता है कि 'जगत् का मूल आत्मा नहीं है; जिसका अभाव ही अन्तिम परिणाम है। ऐसा यह कार्यवर्ग कारण से अनन्वित हुआ ही लीन हो जाता है,- ऐसे उन विपरीत दर्शियों को ब्रह्म किस प्रकार तत्वत: उपलब्ध हो सकता है? अर्थात् किसी प्रकार उपलब्ध नहीं हो सकता।[3]

---

1 मूल शाकर वेदान्त - "श्रुतिप्रस्थान" से उद्धृत पेज नं0 162
प्रो0 संगम लाल पाण्डेय ।

2 वही - पेज 163

3 कठोपनिषद भाष्य - 13

बुद्धि आदि जिसकी उपाधि है तथा जिसका सत्व उसकें कार्यवर्ग में अनुगत है, उस आत्मा को है, इस प्रकार ही उपलब्ध करना चाहिए। जिस समय आत्मा उस बुद्धि आदि उपाधि से रहित ओर निर्विकार जाना जाता है। तथा कार्यवर्ग ''विकार वाणी का विलास और नाम मात्र है, केवल मृत्तिका ही सत्य है'' इस श्रुति के अनुसार अपने कारण से भिन्न नहीं है-ऐसा निश्चित होता है, उस समय जिस निरूपाधिक अलिंग और सत्-असत् आदि प्रतीति के विषयत्व से रहित आत्मा का तत्वभाव होता है, उस तत्व स्वरूप से ही आत्मा को उपलब्ध करना चाहिए। इस प्रकार यहां उपलब्धब्य पद की अनुवृत्ति की जाती है।

इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता है। शंकराचार्य की मान्यता है कि आत्मा की असंग्धि सत्ता सन्देहवाद की सीमा निर्धारित करती है।[1] आत्मा के विषय पर सन्देह करने पर भी आत्मा की सत्ता सिद्व होती है, क्योकि यह उसका अपना स्वरूप है, जो इसका निषेध करता है।[2]

शंकराचार्य के अनुसार आत्मा स्वयंसिद्व है। अतः आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने लिए किसी प्रमाण या युक्ति की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान के सभी साधन (प्रमाण) आत्मा के अस्तिव पर निर्भर है।

---

1 मूल शांकर वेदान्त - श्रुतिप्रस्थान पेज नं. 163

2 'य एवं हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्'
ब्रह्मसूत्र भाष्य - 2/3/7
भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा-'अभिमन्यु प्रकाशन'
पेज नं0 147 से उद्धृत ।

प्रमाणादि–व्यापारों का आश्रय होने के कारण आत्मा का अस्तित्व इनके पूर्व ही सिद्व है।[1]

शंकर का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मा का अपरोक्ष अनुभव है। हम आत्मा की सत्ता के विषय में चेतन हैं। हममें से प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है कि वह है! किसी भी व्यक्ति को अपने न होने का अनुभव नही होता। तात्पर्य यह है कि अपरोक्षानुभूति आत्मा की सत्ता के लिए प्रमाण है।[2] यदि आत्मा का अस्तित्व न होता तो सभी लोग इसके नासितत्व का अनुभव करते। अतः आत्मा का अस्तित्व सिद्व है।

---

1 ''आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रामाणादि व्यवहारात् सिद्ध्ययति।
ब्रह्म सूत्र भाष्य - 2/3/7

2 ब्रह्म सूत्र भाष्य - 1/1/1

अध्याय-3

अद्वैत वेदान्त में चैतन्य का स्वरूप एवं महत्व

(क) पूर्व शांकर वेदान्त मे चैतन्य

(ख) शांकर वेदान्त मे चैतन्य

(ग) शंकरोत्तर वेदान्त में चैतन्य

अद्वैत वेदान्त में चैतन्य का स्वरूप और महत्व

वेदान्त दर्शन के अद्वैतवाद सिद्वान्त का स्थान भारतीय दर्शन ही नहीं विश्व की दर्शन पद्वतियों में शिरोमणि है। यों तो, संहितागत अद्वैतवाद, औपनिषद्-अद्वैतवाद, शक्त्यद्वैतवाद, शैवागम के अद्वैतवाद, बौद्व-अद्वैतवाद, योग वसिष्ठगत कल्पनावाद सम्मत अद्वैतवाद, भर्तृहरि प्रतिपादित शब्दाद्वैतवाद, गौडपादीय अद्वैतवाद, मायावाद पुष्ट-शाकंर अद्वैतवाद, रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद, वल्लभाचार्य के शुद्वाद्वैतवाद एवं निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैतवाद आदि सभी सिद्वान्तों में अद्वैत शब्द का योग एवं अद्वैतवाद सिद्वान्त का न्यूनाधिक स्पर्श मिलता है, परन्तु इन समस्त सिद्वान्तों में शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत अद्वैतवाद का जो पूर्णतया सैद्वांतिक सुब्यवस्थित एवं सामन्जस्य-पूर्ण प्रतिपादन मिलता है, उसका उपर्युक्त अन्य सिद्वान्तों में कहीं अल्प और कही अत्यल्प रूप ही उपलब्ध होता है।[1] अतः यहाँ स्पष्ट रूप से यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि दर्शन के क्षेत्र में शांकर अद्वैतवाद का ही सर्वाधिक महत्व है। इस सिद्वन्त का महत्व इसी से स्पष्ट है कि जब वेदान्त दर्शन की चर्चा होती है तो उससे प्रायः शांकर दर्शन का ही अर्थ ग्रहण किया जाता है और यही कारण है कि साधारणतया वेदान्त दर्शन से अद्वैत दर्शन की ही आशय ग्रहण किया जाता है।

---

1 डा० एस० एन० दास गुप्ता, इण्यिन फिलासफी, वाल्यूम-1 पृ० 429

अद्वैतवेदान्त दर्शन का तात्पर्य-वह शास्त्र या ज्ञान, जो परमार्थ रूप से भेद रहित या द्वैत विरोधी वस्तुतत्व का प्रतिपादन या दिग्दर्शन कराता है।

'वाचस्पत्यम्' के अनुसार अद्वैत शब्द का निर्वचन है-**'द्विधा इतं'द्वीतम, तस्यभावों द्वैतम् द्वैतम भेदः भेदे नास्ति यत्र तदद्वैतम्' अर्थात अद्वैत का अर्थ द्वैत विरोधी या भेदरहित तत्व है।**[1] इस प्रकार अद्वैत जैसा कि शब्द से व्यंजित होता है यह द्वैत के निषेध का सिद्वान्त है। इसमें एकता से अधिक द्वैत के निषध पर बल दिया गया है। वेदान्त अन्तिम सता की इस अद्वैत भावना की व्याख्या निषेधात्मक विधि से निरूपित करता है।

(क) पूर्व शांकर वेदान्त में चैतन्यः-

(i) वेद

अद्वैत वेदान्त को मूर्तरूप प्रदान करने का श्रेय आचार्य शंकर को है, फिर भी यह सत्य है कि अद्वैत दर्शन का बीज वैदिक संहिताओं में भी निहित है तथा उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य में उसकी परम्परा जारी है।

वैदिक महर्षियों ने इस जगत् के कर्ता तथा नियामक मूल चैतन्य तत्व को अपनी सूक्ष्म तात्विक दृष्टि से ढूढ़ निकाला था। इस विषय में नासदीय सूक्त (ऋ0वे0 10/129) ऋषियों की आध्यात्मिक दृष्टि को पूर्णतया ब्यक्त करने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह सूक्त ऋग्वेदीय अद्वैत भावना को जिस रूप में आभासित करता है उस रूप में अभिब्यक्त करने वाले अन्य सूक्तों का नितान्त

---

1 "शांकर वेदान्त में चैतन्य तत्त्व"- लेखिका- **"डॉ0 शशी देवी"**, गौरव प्रकाशन, खजुरी-वाराणसी, प्रथम संस्करण-1988 पृष्ठ-52

अभाव है। नासदीय सूक्त के ऋषि के सामने इस विश्व की उत्पति की विषम पहेली विद्यमान थी। यह विश्व कहां से उत्पन्न हुआ? इसके मूल में कौन सा तत्व विद्यमान था? किस वस्तु की उत्पति सर्वप्रथम हुई? आदि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना सरल कार्य नही है, परन्तु इस सूक्त में इन्ही प्रश्नों का उचित उत्तर अन्तर्दृष्टि की सहायता से प्रस्तुत किया गया है। सृष्टि के आदिकाल में न तो असत् ही था और न सत् ही था। वहां न तो आकाश था, न स्वर्ग ही विद्यमान था, जो उससे परे है। किसने ढ़का था? यह कहाँ था? और किसकी रक्षा में था? क्या उस समय गहन तथा गम्भीर जल था (जिसमें वह पडा हुआ था?) उस समय न मृत्यु थी, न तो अमरत्व ही था, उस समय दिन तथा रात का पार्थक्य न था इतने निषेधों के वर्णन के अनन्तर ऋषि सत्तात्मक वस्तु का वर्णन कर रहा है कि उस समय बस एक ही था, जो वायुरहित होकर भी अपने सामर्थ्य से श्वास ले रहा था। उससे अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु थी ही नही।

यह है नितान्त उदात्त एकत्व भावना। 'तदेकम्'-वह एक। उसके लिंग निर्धारण में असमर्थ होकर वैदिक ऋषियों ने सर्वत्र उस परम तत्व के लिए नपुसंक 'तत्' तथा 'सत्' शब्दों का प्रयोग किया है। वही इस जगत् का मूल कारण है। उसी से चेतन और अचेतन वस्तुओं की उत्पति हुई, वह एक है, अद्वितीय है, उसके साथ तथा समकक्ष रहने वाले अन्य वस्तु का पूर्णतया अभाव है।[1]

---

1 वही पृष्ठ-53

वेदों में सबसे प्राचीन ऋग्वेद माना जाता है और यहां भी हमें अद्वैत-वेदान्त के बीज उपलब्ध होते हैं। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'[1] इस मन्त्र में 'एकं तथा सत्' पद अद्वैत आदितत्व की अभिव्यंजना करते हैं तथा 'बहुधा वदन्ति' के रूप में जो एकत्व में अनेकत्व का कथन किया गया है, वह भी अद्वैत-वेदान्त के विवर्तवाद का ही सूक्ष्मरूप है। इसी प्रकार पुरुष सूक्त में भी अनन्तशिर, अनन्त चक्षु और अन्नतपाद वाले जिस विराट पुरुष की कल्पना की गयी है उससे भी अद्वैत तत्व की परिपुष्टि होती है। अद्वैत वेदान्त में समस्त जगत्, प्रपन्च का निषेध कर अनिर्वचनीय रूप से चैतन्य तत्व की प्रतिष्ठा करने की जो प्रक्रिया प्रचलित है। उसका उत्स हम नासदीय सूक्त में देख सकते है।[2]

यजुर्वेद में भी एक ही तत्व को जो इन्द्र, वरूण, अग्नि विविध नामों से अभिहित किया गया है, वह भी विशुद्ध चैतन्य के एकत्व का प्रतिपादन करता है। इसी प्रकार सामवेद व अथर्ववेद में भी अद्वैत तत्व के प्रतिपादन मन्त्र उपलब्ध होते हैं इसी प्रकार हम देखते है कि वेदों में भी अद्वैत चैतन्य का स्वरूप धुधंले किन्तु गम्भीर रूप में दृष्टिगोचर होता है।

(ii) उपनिषद्

इस प्रकार चैतन्य की जिस अद्वयवादी विचारधारा का बीज हम वेदों में पाते है उन बीजों का अंकुरण उपनिषद् में व्यापक रूप से

---

1. ऋ0 वे0 1/164/46
2. नासदासीन्नो सदासीन्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत् किमावरीव कुहकस्य शर्यन्नम्भः किमासीद् गहमं गभीरम्

हुआ है। उपनिषदें, जिनका अपर नाम वेदान्त भी है, प्रधानरूप से अद्वैत तत्व का प्रतिपादन करती है- 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्', 'नान्यत् किन्चिन मिषत्', 'नेह नानास्ति किन्चन', 'सदैव सोम्येदयग्र आसीत्', 'एकमेवाद्वितीयम्', 'नैवेह किन्चनाग्र', 'आसीत् मृत्युनैवदमावृतमासीत', ब्रह्म' वा इदमग्र आसीत', इत्यादि उपनिषद् वाक्य एक ओर नानात्व और प्रपन्च के मिथ्यात्व का निरुपण करते हैं, वहीं दूसरी ओर अद्वैततत्व की प्रतिष्ठापना भी। यही अद्वयतत्व विशुद्ध चैतन्य है। इस चैतन्य की व्याख्या में उपनिषदों ने खण्डनात्मक और मण्डनात्मक दोनों प्रवृत्तियों का सहारा लिया है। **खण्डनात्मक प्रवृत्ति का महावाक्य ''नेति-नेति'' है और मण्डनात्मक प्रवृत्ति का महावाक्य 'तत् त्वम् असि'।**[1]

ऋग्वेद के नासदीयसूक्त से प्रकट है कि सविकल्प बुद्धि विशुद्ध चैतन्य को ग्रहण करने में असमर्थ है, बुद्धि जगत् की उत्पत्ति का प्रतिपादन तक नहीं कर सकती। प्रारम्भ में न सत् था न असत्, न जीवन न मृत्यु, न दिन था न रात, पर बुद्धि अपनी सर्वप्रथम व सर्वश्रेष्ठकोटि ''अस्ति'' द्वारा ग्रहण करती है। हमारे लिए चैतन्य सत् है, सत्य ही नहीं एकमात्र सत् है, वह सत्य का सत्य है, 'सत्यस्य सत्यम्' और जो चित् है वही सत् हो सकता है, अतः चैतन्य चिद्रूप है' चैतन्य के लिए न तो प्रकाश है न अन्धकार किन्तु हमारे लिए वह प्रकाशों का प्रकाश है- 'ज्योतिषां ज्योतिः'। इसके आगे हमारी बुद्धि जान ही नही सकती। हमारी बुद्धि उस निर्विकल्प

---

1 ''शांकर वेदान्त में चैतन्य तत्त्व''- ''लेखिका-डॉ० शशी देवी'' गौरव प्रकाशन, खजुरी-वाराणसी, प्रथम सस्करण-1983 पृष्ठ-54

विशुद्ध चैतन्य की सीमाओं में प्रवेश ही नहीं कर सकती, क्योंकि बुद्धि का स्वरूप सविकल्पक है। सृष्टि कब, क्यों और कैसे हुई? इसका उत्तर पाने के लिए हम पुरूष सूक्त की मण्डनात्मक धारा की ओर अग्रसर होते हैं। 'पुरुष (चैतन्य) ही यह सब कुछ है, पुरुष (चैतन्य) ही भूत-भविष्य और वर्तमान है। पुरुष (चैतन्य) ही परब्रह्म है जो ईश्वर, जीव व जगत् के रूप में प्रतीत होता है।' उपनिषद् बारम्बार यह घोषणा करते हैं कि वाणी और बुद्धि की पहुंच उस चैतन्य तक नही है। मन और वाणी चैतन्य तक न पहुंचकर वापस आती है।[1] वृहदारण्यक का कथन है कि द्रष्टा का दर्शन, श्रोता का श्रवण, विज्ञाता का विज्ञान, असम्भव है। जिस विज्ञाता के द्वारा यह सब कुछ जाना जाता है उस विषयी विज्ञाता को विषय रूप में कैसे जाना जा सकता है।[2] याज्ञवल्क्य को गार्गी से इसी सन्दर्भ में कहना पड़ता हैं। हे गार्गी! सब कुछ इस अद्वैय व अक्षर चैतन्य के बाहर व भीतर ओत-प्रोत है।[3] केन उपनिषद् की उक्ति है 'जिसके वाणी बोल नहीं सकती, (जिसके द्वारा वाणी बोलती है, जिसको बुद्धि सोच नही सकती, किन्तु जिसके द्वारा) बुद्धि सोचती है, जिसको आँख देख नहीं सकती किन्तु जिसके द्वारा आँख देखती है, जिसे कान सुन नहीं सकते किन्तु जिसके द्वारा कानों का सुना जाना सम्भव है जो स्वयं श्वास नहीं लेता किन्तु जिसके कारण श्वास लेना सम्भव है- केवल उसी को ब्रह्म जानो, उसको नहीं जिसकी लोग बाहर उपासना करते हैं।[4] बुद्धि विज्ञाता ब्रह्म को विज्ञेय के रूप में कभी नहीं जान

---

1 यतो वाचो नियतंते... ... ।

2 विज्ञातारमैरै ! केना विजानीमात् । - वृहदा रण्यकोपनिपद् 2/4/14

3 वृहदारण्यक 3/6/1, 3/8/4-8

4 केनोपनिषद 1/4/8

सकती। विशुद्ध (चैतन्य ब्रह्म आत्मस्वरूप है और उसको केवल विशुद्ध) निर्विकल्प ज्ञान द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है।

चैतन्य अद्वय, अनादि, अनन्त, सविकल्प बुद्धि द्वारा अगम्य, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मस्वरूप है जिसका ज्ञान जन्म मरण चक्र से छुटकारा दिलाता है। बुद्धि इसे नहीं जान सकती अतः सविकल्पक बुद्धि अधिक से अधिक इसके बारे में 'नेति-नेति' कह सकती है। किन्तु 'नेति-नेति' स्वयं चैतन्य को अभावात्मक या शून्य नहीं करा सकती है। 'नेति-नेति' विशुद्ध चैतन्य की अनिर्वचनीयता का बाध कराती है। उसकी शून्यता का नहीं। याज्ञवल्क्य का कथन है कि द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नहीं ही सकता।[1] ज्ञाता और ज्ञान में वास्तविक दृष्टि से कोई भेद नहीं। तादात्म्य के अतिरिक्त इनका और कोई संबंध सिद्ध नहीं हो सकता। अतः 'नेति-नेति' का अर्थ है कि तत्व बुद्धिग्राह्य न होने के कारण विकल्प प्रपन्च द्वारा अनिर्वचनीय होने से विशुद्ध विज्ञानात्मस्वरूप तथा निर्विकल्प ज्ञान साक्षात्कार योग्य हैं। यह जो कुछ हैं वह विशुद्ध चैतन्य ब्रह्मस्वरूप है। जो ब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।[2]

उद्यालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश देते हैं- 'जिस प्रकार मिट्टी को जान लेने पर मिट्टी के बने हुए सब पदार्थो का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि घट, शराब आदि केवल नामरूप हैं, विकार है, सत्य तो

---

1 न द्रष्टर्दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते । - वृह0 4/3/23 ।

2 ब्रह्मविद ब्रह्ममैव भवति ।

मिट्टी ही है, जैसे सुवर्ण की जान लेने पर सोने के बने हुए सब पदार्थो का ज्ञान हो जाता है क्योंकि आभूषण नाम और रूपमात्र है, सत्य तो सुवर्ण ही है उसी प्रकार आत्मतत्व का ज्ञान हो जाने पर नामरूपात्मक जगत् के समस्त पदार्थ जान लिए जाते हैं। आत्मा ही परमार्थ सत् हैं श्वेतकेतु तू ही यह आत्मा हैं।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनों में हम यह देखते हैं कि एकमात्र विशुद्ध चैतन्य उपनिषदों में दो प्रकार से व्याख्यापित किया गया है। प्रथम व्याख्या में उसे 'नेति-नेति' के निर्विकल्पक मापदण्ड द्वारा उसे निर्गुण निराकार स्वरूप विशुद्ध चैतन्य सिद्ध किया गया है, इस दृष्टि से यद्यपि उसमें कोई भी विशेषण नहीं आरोपित किए जाने चाहिए थे, किन्तु उपनिषदों के युगदर्शी द्रष्टाओं द्वारा उसे 'सच्चिदानन्द' कहा गया है। द्वितीय मापदण्ड के आधार पर उसी निराकार निर्गुण चैतन्य की विवेचना भावात्मक शब्दों में की गयी है तथा हमारे अन्तरतम में विद्यमान अज्ञानोपहित चैतन्य (जीव) और बाह्यलोक में बृहणशील विशुद्ध चैतन्य (ब्रह्म) के बीच तात्विक तादात्म्य स्थापित किया गया है।

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में उपनिषद् वाक्यों की प्रवृत्ति दो रूपों में वर्णित की है। उपनिषद् की एक प्रवृत्ति परमात्मस्वरूप निरुपण परा है तथा दूसरी प्रवृत्ति विज्ञानात्मा और परमात्मा की एकत्वोपदेश परा है।[2] उपनिषदों के मन्थन से

---

1 तत्त्वमसि श्वेतकेतो । - छान्दोग्योयनिषद् 6/8/7

2 द्विरूपा हि वेदान्त वाक्यानां प्रवृत्ति., क्वचित परमात्मस्वरूप, निरूपण परा क्वचित् विज्ञानात्मनः परमात्मैकत्वोपदेशपरा ।" ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 1।3।25, पृ0 246 ।

यह तथ्य वस्तुतः स्पष्ट हो जाता है । उपनिषदों की विशुद्ध चैतन्य (ब्रह्म) स्वरूप प्रतिपादन परा प्रवृत्ति 'य आत्मा अपहतयात्मा' (छा0उप0 8।7।1) 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (छा0उप03।4।1), 'योऽशनायापिपासे' (वृह0उप0 35।1), 'नेति-नेति' (वृह0उप0 3।3।6), 'अस्थूलमनणु' (वृ0उप0 3।8।8), 'स एष नेति' (बृह0उप0 3।9।26), 'अदृष्टं द्रष्टे' (बृ0उप0 3।8।11), 'विज्ञान मानन्द ब्रह्म' (3।9।28), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' (तै0उप0 2।1।1), 'अदृश्ये नात्म्ये' (तै0 उप0 2।7।1), 'स वा एव महानज आत्मा' (बृ0उप0 4।4।22), 'अप्राणो ह्यमनाः' (मु0उप0 3।1।2), स बाह्यभ्यन्तरो ह्यजः' (मु0उप0 2।1।2), 'विज्ञानधनएव' (बृ0उप0 3।4।12), 'अनन्तरमबाह्यम्' (बृ0उप0 2।5।19), 'अन्येदेवं तद्विदिताव यो अविदितात्' (के0उप0 1।4), तथा 'आकाशी बेनाम' (छा0उप0 8।14।1), इत्यादि श्रुति वचनों से प्रमाणित है। द्वितीय प्रबृत्तिमूलक विज्ञानात्मा और परमात्मा के एकत्व प्रतिपादक उपनिषद् वाक्य-'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै0उप0 2।6।1), 'अन्तःप्रविष्टःशास्ता जानानाम्' 'स एव इह प्रविष्टः' (वृ0उप0 1।4।7), 'एष त आत्मा' (वृ0उप0 3।7।3), 'स एतमेव सीमानं विदायेतया द्वारा प्रापद्यत' (ए0उप0) एव सर्वेषु भूतेषु गूढ़ आत्मा (क0उप0 1।3।12), 'सेयं दैवतेक्षत् हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवताः' (छा0उप0 6।3।1), और 'स आत्मा तत्वमसि (छा0उप0 6।8।16), आदि है। यही जीवब्रह्मैक्यबोधन उपनिषद् व तन्मूलक वेदान्त दर्शन का परम प्रयोजन है।[1]

स्वरूप प्रतिपादक उपनिषद् वाक्यों में कुछ उपनिषद् वाक्य निर्गुण चैतन्य का स्वरूप (निरूपित करते हैं और कुछ सगुण ब्रह्म का निगुर्ण चैतन्य के

1 "शांकर वेदान्त में चैतन्य तत्त्व" लेखिका- डॉ0 शशी देवी प्रथम संस्करण-1988, पृष्ठ-57।

स्वरूप का भी निरूपण) भावमुखेन तथा अभाव मुखेन दो प्रकार से किया है। 'सत्यं ज्ञानम्' (तै0 उप0 2।1।1), 'विज्ञानमानन्द' (वृ0 उप0 3।9।27), 'य आत्मा' (छा0 उप0 8।7।1) तथा 'विज्ञानधन एव' (बृ0 उप0 2।4।12) इत्यादि ब्रह्म स्वरूप निरूपक वाक्य चैतन्य [(ब्रह्म) का भावतया निर्देश करते हैं। स्थूलमनणु (वृहदारण्यक उपनिषद्) इत्यादि श्रुतिवाक्य ब्रह्म का स्वरूप] अभावमुखेन प्रतिपादित करते हैं। इन श्रुति वाक्यों से ज्ञात होता है कि ब्रह्म (चैतन्य) अद्वैत असंग, अक्षर, अपरिचिछन्न निर्गुण, निरंश, निरंजन, निष्फल, निर्विकार, निर्लेप, निरतिशय, निरवयव, निरपाधिक, निर्धर्मक तथा सर्वविधभेदरहित है।

'सर्वकर्मासर्वकामः (छा0 उप0 3।14।4) तथा 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि उपनिषद् वाक्य सगुण चैतन्य का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार निर्गुण चैतन्य व सगुण चैतन्य के जो दो भेद उपनिषदों में दिखाई पड़ते हैं जो विशुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति की मात्र दो दृष्टियाँ है। दोनों के बीच तात्विक भेद नही है, जो इनमें द्वेता या भेद बुद्धि देखता है, वह मृत्यु को प्राप्त होता है।[1] लगभग ऐसा ही कठोपनिषद् में दो बार मिलता है।[2] तैत्तिरीय उपनिषद् तथा वृहदारण्यक उपनिषद् स्पष्ट घोषणा करतें हैं कि जो तनिक भी भेद रखता है, उसे भय होता है।[3] इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् में ठीक ही कहा गया है कि जो कुछ है, सब अक्षर "ओऽम्" है, जो कुछ था, है या होगा केवल "ओऽम्" ही है। जो तीनों कालों के परे है, वह भी "ओऽम्" ही है। निःसन्देह यह सब विशुद्ध चैतन्य ब्रह्म है।

---

1 वृ0 उप0 4।4।19 ।

2 कठो0 उप0 1।4।10-11 ।

3 तै0 उप0 2।7। वृ0 उप0 1।4।2।

(iii) भगवद्गीता

श्रीमद्भगवदगीता में अद्वैत तत्व का निरूपण अनेक स्थलों पर किया गया है। गीता में अनेक स्थलों पर ब्रह्म शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक और अद्वैतपरक अर्थ में किया गया है।[1] इस प्रकार गीता में जहाँ अध्यात्मिक एवं अद्वैतपरक अर्थ में ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ पर सर्वोच्च सत्य विशुद्ध चैतन्य के रूप में वर्णित हुआ है। यहाँ यह कह देंना उपयुक्त होगा कि गीता द्वारा प्रतिपादित विशुद्ध चैतन्य निर्गुणत्व ही है, सगुण नहीं। गीता में परमात्मा को अनादि एवं निर्गुण होने के कारण ही अव्यय कहा गया है।[2] अनादि चैतन्य (ब्रह्म) को सत् तथा असत् से विलक्षण कहना भी उसके निर्गुण होने का ही प्रमाण है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में परमतत्व (विशुद्व चैतन्य) की अवधारणा उपनिषदों पर ही आधारित है। गीता एक विशेष तत्व "पुरूषोत्तम" को मानती है जिसमें परब्रह्म (विशुद्व चैतन्य) की निर्विकारता और अपरब्रह्म की सगुणता दोनों का समावेश है। गीता विशुद्व चैतन्य के दो भावों अपरभाव तथा परभाव की सत्ता बतलाती है।

ईश्वर अपने एक ही अंश से योगमाया से युक्त होकर इस प्रपञ्चात्मक जगत् में अभिव्यकत होकर उसमें स्थित है।[3] यह अपरभाव या

---

1. "तस्मात् सर्वगत ब्रह्म"-गीता 3।15, 4।25, 31, 5।6, 5।19, 8।3, 13,10।12, 13।30, 14।4, 13।12, 10।50 ।
2. गीता, 13।31.
3. गीता, 10।41.

विश्वानुग रूप है तथा इसके अतिरिक्त उसका इन सबसे अलग रूप है, जिससे वह विश्व में व्याप्त होते हुए भी इन सबसे परे है[1]। वह उसका पररूप या विश्वतीत रूप है। ये परमात्मा के दोनों रूप उसकी दो प्रकृतियों पर आधारित हैं। ये दोनों प्रकृतियां क्रमशः अपराप्रकृति और पराप्रकृति है जो विश्व के जड़ और चेतन दो विभिन्न पक्षों की व्याख्या करती है।

परमेश्वर (सगुण चैतन्य) माया के द्वारा सम्पूर्ण प्रपञ्चात्मक विश्व की सृष्टि करता है।[2] सप्तम् अध्याय में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि--मेरे अतिरिक्त जगत् का कारण और कुछ नहीं है। यह जगत् मुझसें उसी प्रकार स्थित है, जिस प्रकार की सूत्र में मणियाँ अनुस्यूत रहती हैं।[3] भगवान बताते हैं कि सब भूतों में अन्तर्यामी मैं हूँ।[4] सब विभूतियाँ मेरा अंश हैं।[5] अतः इस रूप में वह सगुण है, परन्तु आगे भगवान् बताते हैं कि मेरा यह व्यक्त रूप मायिक है और इससे परे जो इन्द्रियातीत मेरा रूप है वही मेरा सच्चा रूप है।[6] मैं अव्यक्त हूँ अज्ञानवश लोग मुझे व्यक्त समझते हैं। मैं कर्मो तथा गुणों से कभी लिप्त नहीं होता। यहां ईश्वर का निर्गुण रूप चैतन्य लक्षित होता हैं वस्तुतः परमात्मा का सगुण या व्यक्त रूप गीता में केवल उपासना के उद्देश्य के कारण ही वर्णित है। उसका सर्वश्रेष्ठ रूप अव्यक्त ही हैं।

---

1 वही, 7।24 ।
2 वही, 14।3 ।
3 वही, 7।7 ।
4 वही, 10।20 ।
5 वही, 10।41 ।
6 वही, 7।24 ।

गीता में ईश्वर के इस सगुण निर्गुण रूप के अतिरिक्त कहीं-कहीं इन दोनों को मिलाकर भी अव्यक्त ईश्वर का वर्णन मिलता हैं जैसे गीता में कहा गया है कि "मैं भूतों का आधार होकर भी उनमें नहीं हूँ"[1] परब्रह्म न तो सत् है न असत्,[2] वह निर्गुण होकर भी गुणों का भोक्ता है।[3] वह इन्द्रियों के विषयों को जानता है फिर भी वह इन्द्रियरहित है। इस प्रकार अनेक स्थलों पर परस्पर विरोधी वर्णन भी मिलता है। अतः गीता में ईश्वर का सगुण, निर्गुण तथा परस्पर विरोधी वर्णन भी मिलता है।

इन सबका समावेश गीता अपने **पुरुषोत्तम** तत्व में कर देती है। पुरुषोत्तम तत्व गीता का एक महत्वपूर्ण आध्यात्मिक तत्व है, जिसमें व्यक्त, अव्यक्त, क्षर-अक्षर या परब्रह्म की निर्विकारता और ईश्वर की क्रियाशीलता दोनों का समावेश हो जाता है। जो विश्वानुग होकर भी विश्वातीत है, अर्थात् जो विश्व में व्याप्त रहकर भी उससे अछूता है, वह पुरुषोत्तम है। गीता इसी पुरुषोत्तम को सभी कर्म समर्पित करने के लिए कहती है।

उपनिषदों की ही भावना के अनुकूल गीता भी आत्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करती है। आत्मा व ब्रह्म दोनों ही निर्गुण, अव्यक्त, निरञ्जन होने के कारण उनके रूप का वर्णन करने में उपनिषदों की तरह **'नेति-नेति'** कहना पड़ता है। या चुप्पी साध जाना पड़ता है। यदि सरल भाषा में कहे तो आत्मा व [ब्रह्म के एकत्व को इस प्रकार भी समझ सकतें हैं कि जो पिण्ड में

---

1 वही, 9।5 ।

2 वही, 13।12 ।

3 वही, 13।14 ।

है वही] ब्रह्माण्ड में है। "वह देह में स्थित" आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है। वह साक्षी होने से उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमत्ता, सबका धारण पोषण करने वाला होने से भर्ता जीव रूप से भोक्ता ब्रह्म आदि का स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा है।[1]

जब आत्मा प्रकृति में या शरीर में गुणों या विषयों के कारण बद्ध रहता है तो उसे जीवात्मा कहते है। कर्मो के कारण ही आत्मा बद्ध होती है। कर्म सब प्रकृति के गुणो के कारण निष्पन्न होते है। परन्तु आत्मा अज्ञानवश अपने को कर्ता समझती है और वह बद्ध हो जाती है, यही बद्ध आत्मा ही जीवात्मा है। ज्ञाता जीवात्मा भोक्ता बनकर प्रकृति में स्थित मनसहित छः इन्द्रियो को आकर्षित कर विषयों का सेवन करती है।[2] और स्वयं विषयों में फंस जाने का अर्थ है विषयों में आसक्ति। इसी आशक्ति के कारण जीवात्मा नये-नये शरीर धारण करती है जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये [वस्त्र को धारण करता है उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर नये] शरीर धारण करती है।[3] यह देहान्तरगमन का सिलसिला तब तक समाप्त नही हो जाता जब तक वह अपने लक्ष्य तक नही पहुँच जाता अर्थात् सत् रूप में नही आ जाता और अनन्त ब्रह्म में जाकर विलीन नहीं हो जाता। यह जीवात्मा परमेश्वर का ही अंश है।[4] यहाँ अंश शब्द का अर्थ काटकर अलग किया हुआ कोई टुकड़ा नही है, अपितु तात्विक दृष्टि से इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि जिस प्रकार

---

1 गीता 13।22 ।

2. वही, 15।9 ।

3. वासंसि जीर्णानि--देही। वही, 2।22

4 ममैवांशो ।

एक घड़े के भीतर का आकाश और घड़े का एक ही सर्वव्यापी आकाश का अंश है। उसी प्रकार जीवात्मा भी परब्रह्म का ही अंश है। माया के कारण जीव व्यर्थ की आशा, ज्ञान एवं अविवेक से युक्त हो जाते हैं।[1] तथा समूढ़ होकर निरन्तर जन्मादि का भाजन बनते है।[2] जीव जब ज्ञान के द्वारा माया या अज्ञान का नाश कर देता है तब उसके लिए आदित्य स्वरूप परम ज्ञान प्रकाशित हो जाता है।[3] अर्थात वह ज्ञानस्वरूप विशुद्ध चैतन्य (ब्रह्म) का साक्षात्कार कर लेता है तथा ज्ञान से निर्धूतकल्मस हो जाने के कारण पुनरावृति रहित हो जाता है।[4] जैसे दीप्ताग्नि ईधन समूह को भस्मसात् कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि अज्ञान स्वरूप कर्मकलाप को भस्मसात् कर देता है।[5] और विशुद्ध चैतन्यमय कर लेता है। इस प्रकार गीता में भी एक ही चैतन्य तत्व अपनी योग माया से नानारूपों में प्रतीत होता है।

(iv) ब्रह्मसूत्र

प्रस्थानत्रयी में बादरायण कृत ब्रह्मसूत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। जिसमें आपततः विरोधी उपनिषद् वाक्यों का समन्वय एक मात्र अद्वितीय चैतन्य में दिखाया गया है। इस ग्रन्थ में अतिलघु शब्दों द्वारा अत्यधिक संक्षिप्त रूप में परब्रह्म के स्वरूप किया गया है। इसलिए इसका नाम ब्रह्मसूत्र है। भाष्यकार शंकर के अनुसार[6] सूत्रकार ने उसमें वेदान्त वाक्य रूप कुसूमों को ग्रथित किया है। इस ब्रह्मसूत्र को वेदान्त सूत्र अथवा शारीरिक

---

1 गीता, 9।12 ।

2. गीता, 7।27 ।

3 गीता, 5।16 ।

4. गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूकमल्मषाः । - वही 5।10 ।

5 वही, 4।37 ।

6 वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम् । - ब्र0 सू0 शां0 भा0 1/1/2 पृ0 - 50 ।

सूत्र भी कहा जाता है। सूचनात सूत्रमित्याहुः- इस आप्त वचन द्वारा वह परब्रह्म का सुचक है। यह ऋगादि वेदों के अन्तिम सिद्धान्त का दर्शन कराता है। अतः इसलिए वेदान्त दर्शन कहते है। महर्षि बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में अद्वैतवाद की जड़ों को बड़ी मजबूती के साथ दर्शन के अन्तरतम तक पहुँचाया है। बादरायण की यह अवधारणा है कि तत्व एक ही है, जो माया के कारण नानारूपों-जीव, जगत आदि में प्रगट होता है। यही विशुद्ध चैतन्य ही जीव-जगत का कारण है।[1] एक मात्र विशुद्ध चैतन्य की ही सता है। बादरायण की यह अवधारणा है कि लोक प्रसिद्ध जीव ब्रह्म का भेद पारमार्थिक नही वरन् औपाधिक है। उपाधि रहित जीव ही ब्रह्म है।

इनकी कृति ब्रह्मसूत्र को उत्तर मीमांसा भी कहते है। ब्रह्मसूत्र ने अपने इस प्रशस्त ग्रंथ को चार अध्यायों एवं सोलह पादों में विभक्त किया है। पहले अध्याय में बताया गया है कि सभी वेदान्त वाक्यों का एकमात्र अद्वय प्रत्यगभिन्न ब्रह्म के ही प्रतिपादन में अन्वय है। इसीलिए इसका नाश समन्वयाध्याय है। द्वितीय अध्याय सब प्रकार के विरोधाभासों का निराकरण किया गया है इसलिए इसका नाम अविरोधाध्याय है। तृतीय अध्याय का नाम साधनाध्याय है। इसमें तत् एवं त्वम् पदार्थ शोधन विचारक जीव और ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश कर ब्रह्म साक्षात्कार के ब्रहिरंग यज्ञादि और शमदम, निदिध्यासनादि अन्तरंग साधनों का विचार किया गया है।[2] ब्रह्म विद्या तथा चित् स्थैर्य सम्पादक अन्यान्य उपासनाओं के विषय में भी विचार किया गया

---

1 जन्माद्यस्य यतः । - ब्र0 सू0 1/1/2 ।

2 "शांकर वेदान्त में चैतन्य"-"**डॉ0 शशी देवी सिंह**" गौरव प्रकाशन-खजुरी-वाराणसी; प्रथम संस्करण-1988, पृष्ठ-62

है। चतुर्थ अध्याय का नाम फलाध्याय है। इसमें जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति आदि पर विचार किया गया है।

अद्वैत वेदान्त की पृष्ठभूमि के रूप में उपर्युक्त तीन ग्रन्थों के समन्वित स्वरूप को स्वीकार किया जाता है। शंकर तथा उनके अनेक पूर्ववर्ती तथा अनुवर्ती भाष्यकारों ने इसी प्रस्थानत्रयी की सहायता से अद्वैत दर्शन का भव्य प्रसाद निर्मित किया है।

(V) गौड़पाद दर्शन में चैतन्य का स्वरूप

अद्वैत वेदान्त का व्यवस्थित स्वरूप हमें सर्वप्रथम गौड़पाद के ही दर्शन में उपलब्ध होता है। गौड़पाद शंकर के गुरु गोविन्दपाद के गुरु थे। शंकर स्वयं गौड़पाद को **"पूज्याभिपूज्य परमगुरु"** कहकर अत्यन्त आदरपूर्वक प्रणाम करते हैं।[1] ब्रह्मसूत्र-भाष्य (2/1/9) में भी उन्हें वेदान्त सम्प्रदायवित् आचार्य कहकर उनकी कारिका उद्धृत करते हैं।

गौड़पाद का दर्शन उपनिषद्वर्ती सिद्धान्तों का सर्वश्रेष्ठ तथा तथ्यपूर्ण प्रतिपादन है, जो मुख्यत: माण्डूक्य, वृहदारण्यक तथा छान्दोग्योपनिषद् पर आधारित है। गौड़पादीय दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन गौड़पाद कारिका या माण्डूक्य कारिका में किया गया है।

गौड़पाद का मूल सिद्धान्त अजातिवाद के नाम से जाना जाता है। वह भीतर बाहर सभी ओर अज है[2] यह मुण्डक उपनिषद् में

---

1 यस्तं पूज्याभिपूज्यंपरमगुरुममु पादपातेनतोऽस्मि । - गौ0 का0 अन्तिम 45 ।

2 स बाहयाभ्यन्तरो अजः । - मु0 उप0 2/1/2 ।

अजातिवाद का बीज है। उनका कहना है कि परमार्थतः न किसी जीव की उत्पत्ति होती तथा न किसी जीव की उत्पत्ति का कारण है। वस्तुतः एकमात्र ब्रह्म (विशुद्ध चैतन्य) ही सत्य है। जिससे कुछ भी उत्पन्न नही होता।[1] अतः परमार्थतः दृष्टि से जीव अजात ही है। जगत् मिथ्या है अतः परमार्थतः अनुपपन्न है। तत्व सत्य है अतः अज है। गौड़पाद का कहना है कि सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जो सत् है, वह तो पहले ही है और उसको पुनरोत्पत्ति मानना व्यर्थ है। असत् की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जो असत् है, यह बन्ध्यापुत्र के समान है और वह न माया से उत्पन्न हो सकता है न यथार्थ से। इस प्रकार सत् (चैतन्य) एक ही है तथा नित्य है।[2]

कुछ लोग सृष्टि को ईश्वर की विभूति मानते है, कुछ उसे स्वप्न और माया के समान बतलाये हैं, कुछ उसे ईश्वर की इच्छा कहते हैं, अन्य लोग उसे काल पृष्ट कहते है, कुछ अन्य उसे भोग के लिए बतलाते हैं और कुछ का मत है कि सृष्टि ईश्वर की क्रीड़ा है। आचार्य के मत में उपर्युक्त सभी मत असत्य हैं। सब कामनाओं के स्वामी आप्तकाम प्रभु को किस वस्तु की स्पृहा हो सकती है? अतः सृष्टि प्रभु का स्वभाव मात्र है। जगत् चैतन्य (तत्व) का प्रतिभास है। अविद्या के कारण तत्व ही जगत् रूप से प्रतीत हो रहा है। वस्तुतः जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सृष्टि केवल भ्रान्ति है।

---

1 न कश्विज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते
एतन्तदुन्तम सत्य यत्र किंचिन्न जायते ।। - गो० का० 3।48 ।

2 मा० का० 4/40 ।

भेद असत् है अभेद ही सत् है, द्वैत माया है, अद्वैत ही परमार्थ है। वेदान्त निष्णात विद्वान् इस विश्व को स्वप्नवत, मायावत, गन्धर्वनगर वत् मानते हैं।[1] पारमार्थिक दृष्टि से न निरोध है न उत्पत्ति, न बद्ध है न साधक, न मुमुक्षु है और न मुक्त।[2] न एक है न नाना, न आना है न जाना। जिस प्रकार अन्धेरे के कारण रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है, उसी प्रकार अविद्या के कारण आत्मतत्व में विश्व की भ्रान्ति हो जाती है।

अजाति परमार्थ है। यह सदा एकरस, एकरूप और त्रिकालाबाध है। यहां भय, शोक, मोहादि को स्थान नही। तत्व अद्वय है। कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। किसी भी प्रकार का कहीं भेद नहीं है। **"नास्ति भेद कथंचन"** जब उपनिषद् सृष्टिकार्य को कारण से भिन्न बतलाकर मृत्तिका, सुवर्ण, लौह, विस्फुलिंग आदि के दृष्टान्त देते है तो इनका यह अर्थ नहीं है कि सृष्टि वास्तविक है। ये दृष्टान्त तो हमें समझाने के साधन हैं, उपाय हैं, वास्तव में किसी प्रकार का भेद नहीं है। जगत् जीव से भिन्न नहीं है, जींव आत्मा से भिन्न नहीं है। आत्मा को उन्होंने आकाश के समान सूक्ष्म, निरवयव और सर्वगत कहा है जो क्षेत्रज्ञ रूप घटाकाशों के समान हैं घटादि के विलीन होने पर जिस प्रकार घटाकाशादि विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव भी आकाश रूप आत्मा में विलीन हो जाते हैं।[3] एक प्राणी के

---

1 स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगर यथा ।
तथाविश्वमिदं दृष्ट वेदान्तेषु विचक्षणैः ।। - वही, 2/31 ।

2 न निरोधो न चौत्पर्त्तिर्नबद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वैमुक्त इत्येषा परमार्थता ।। - गो० का० 2/32 ।

3 घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा। आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवाः इहात्मनि।-गौ० का०,3।4।

सुख-दुःख में, एक आत्मा के होने पर अन्य को भी ऐसा क्यों नहीं होता, इसका उत्तर घटाकाश का उदाहरण देकर आचार्य देव ने दिया है।[1] उनका मत है कि आत्मा में भेद करना व्यर्थ है जैसे घटाकाश आकाश का न तो विकार है और न अवयव। इसी प्रकार जीव न आत्मा का विकार है न अवयव।[2] मूढ़ जन जिस प्रकार मलिनता को आकाश में आक्षिप्त करते हैं उसी प्रकार आत्मा को अनेक मलरूप उपाधियों से मलिनीकृत करना है।[3] देहादि संघात सभी स्वप्नवत् हैं और आत्मा की माया के द्वारा उद्भूत हैं। परमार्थ रूप में वे अपनी सत्ता नहीं रखते। क्योंकि समस्त प्रपञ्च अविद्याकृत हैं परमार्थ में वे हैं ही नही।[4] इस प्रकार विशुद्ध चैतन्य की ही सत्ता है, जगत् जीव से भिन्न नहीं है, जीव आत्मा से भिन्न नहीं है, आत्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अद्वयतत्व अज होते हुए भी अविद्या के कारण भेदवत् होता है। यदि भेद वास्तविक होता तो अमृत मर्त्य बन जाता। द्वैतवादी अजन्मा के जन्म की सिद्धि करना चाहते हैं। अजन्मा तो अमर है और अमर मरणशील कैसे हो सकता है? स्वभाव का कभी परिवर्तन नहीं हो सकता। प्रकृति या स्वभाव का अन्यथाभाव या परिणाम होना असम्भव है।[5] भगवती श्रुति कहती है- "नेह नानास्ति किन्चिन्" (बृह0

---

1 यथैकस्मिन् घटाकाशे रजो धूमादिभिर्युते ।
न सर्वे सम्प्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवा· सुखादिभिः । - गौ0 का0, 3।5 ।

2 नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा ।
नैवात्मन· सदा जीवो विकारावयवौ तथा । - वही, 3।7 ।

3 यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः ।
तथा भवत्यबुद्धानामात्मापि मलिनी मलै· । - वही, 3।8 ।

4 वही, 3।10 ।

5. प्रकृतेस्यथाभवो न कथंचित् भविष्यति । गौ0 का0 3।21, 4।7 ।

4।4।19) (कठ0 उप0 2।1।11) अर्थात् यहां कोई भेद नहीं हैं, एवं ''अजायमानो बहुधा विजायते (बृ0 2।5।19) अर्थात् परमतत्व अज होते हुए भी (अविद्या) से जगत्प्रपन्च रूप से जन्मता-सा प्रतीत होता है।

द्वैतवादियों के लिए व्यवहार और परमार्थ दोनों दशाओं में द्वैत है, अद्वैतवादी के लिए व्यवहार में द्वैत व परमार्थ में अद्वैत है अतः अद्वैत का किसी से विरोध नहीं है।[1] वह अद्वैत तत्व नित्य, शान्त, अजन्मा, स्वभाव से ही अत्यन्त उपरत तथा सम और अभिन्न हैं; क्योंकि आत्म तत्व अज, समतारूप और विशुद्ध चैतन्य है।[2] विशुद्ध चैतन्य ही प्रत्येक ज्ञात-अज्ञात वस्तु साक्षि चैतन्य का विषय हैं। विज्ञानात्मतत्व ही विषयी और विषय अस्मत और युष्मत् जीव और जगत् के रूप में प्रतीत होता है। वस्तुतः जीव व जगत् दोनों असत् है। दोनों अज है, जो इनकी उत्पत्ति देखना चाहते हैं वे आकाश में पक्षियों के चरण खोजते हैं।[3] वस्तुतः यह अज भी नहीं है, क्योंकि यह अनिर्वचनीय है। इसे अज शास्त्रादि कल्पित व्यवहार के कारण कहा जाता है।[4] अतः एकमात्र अद्वैत आत्मतत्व (चैतन्य तत्व) ही सत्य है।

गौड़पाद के अनुसार अविद्या ही आत्मा के बन्धन का कारण हैं इस अविद्या की विद्या के द्वारा निवृत्ति या जीवात्मा के अन्दर आत्मा का साक्षात्कार कर लेने का नाम ही मोक्ष है। जिस समय चित् सुषुप्ति में लीन

---

1 वही, 2।18 ।

2 वही, 2।29 ।

3 वही, 4।28-29 ।

4 गौ0 का0 4।74 ।

न हो, विक्षिप्त न हो तथा निश्चल और विषयाभास से रहित हो जाय उस समय वह ब्रह्ममय हो जाता है।[1] उस अवस्था में जो आनन्द का अनुभव होता है उसे ब्रह्मज्ञ लोक स्वस्थ, शान्त, निर्वाणयुक्त, अकथनीय, निरतिशय सुखस्वरूप, अजन्मा, ब्रह्ममय व सर्वज्ञ कहते हैं।[2] मोक्ष के साधन के रूप में गौड़पाद योगशास्त्रविहित् पद्धति को स्वीकार करते हैं।

गौड़पाद के आत्मा विषयक सिद्धान्त के अनुशीलन से ऐसा लगता है कि आचार्य गौड़पाद बौद्धदर्शन से कुछ अंशों में प्रभावित थे। जिस रूप में गौड़पाद ने अपने अद्वैत चैतन्यतत्व की प्रतिष्ठा की है, वह माध्यमिकों के अद्वयवाद के अधिक निकट प्रतीत होता है।

गौड़पाद एकमात्र विशुद्ध; विज्ञानस्वरूप, स्वयंप्रकाश आत्मा को ही सत् व बाह्यार्थ जगत् व जीव को अन्योन्यापेक्ष होने से मिथ्या मानते हैं। वे परमार्थतः जीव व जगत् को अजाति मानते हैं। गौड़पाद, विज्ञानवादियों की ही तरह विज्ञान बाह्य जगत् की सत्ता को मिथ्या बतलाते हैं। आचार्य शंकर भी अपने गौड़पादकारिका भाष्य में कहते है कि विज्ञानवादी बौद्धों द्वारा किये गये बाह्यर्थ के खण्डन का गौड़पादचार्य अनुमोदन करते हैं।[3] शून्यवादी, विज्ञानवादी दोनों के अनुसार जगत् मिथ्या है। शून्यवादी जगत् को सदसद्निर्वचनीय होने से तथा विज्ञानवादी उसे विज्ञान ब्रह्म होने से मिथ्या मानते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से शून्यवादी के लिए जगत् एवं तत्व तथा विज्ञानवादी के लिए जगत् एवं विज्ञान

---

1. वही, 3।46 ।
2 वही, 3।47 ।
3 विज्ञानवादिनो बौद्धस्य वचन बाह्यार्थवादिपक्ष प्रतिषेध परमात्चायेणानुमोदितम् - वही, 4।28 ।

में कोई अन्तर नही है। **माध्यमिक समस्त बुद्धिजन्य प्रपंच को शून्य तथा विज्ञानवादी प्रपंचशून्य तत्व को विज्ञान मात्र मानते हैं। आचार्य गौड़पाद दोनों कट्टर अद्वैतियों के विचारों से सहमत हैं।** अतः इनका प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि गौड़पाद को अपने दर्शन को बौद्धों के दर्शन से कुछ साम्य होने का ज्ञान था, इसीलिए वे "विरोध रूप में ऐसा कहते हैं कि - बुद्ध ने ऐसा नही कहा था।"[1]

गौड़पाद द्वारा प्रयुक्त कतिपय शब्दावलियों यथा-बुद्ध, प्रज्ञप्ति, संक्लेश, संघात, अलात् व्यावहारिक सत्य, पारमार्थिक सत्य, परा अपराविद्या आदि से भी बौद्ध-दर्शन से इनके प्रभावित होने की पुष्टि होती है। इन पदों को डॉ0 विधुशेखर भट्टाचार्य ने बौद्ध-ग्रन्थों से उद्धृत माना है जब कि ये पद वास्तव में उपनिषदों में ही मिल जाते हैं।[2] प्रो0 भट्टाचार्या इन्ही कतिपय आधारों पर गौड़पाद को "प्रच्छन्न बौद्ध" कहा है। डॉ0 सी0डी0 शर्मा का कहना है कि महायान तथा अद्वैत दोनों ही एक उपनिषद् सिद्धान्त के विकास की विभिन्न अवस्थाएं हैं। गौड़पादाचार्य को "प्रच्छन्न बौद्ध" कहने की अपेक्षा महायानाचार्यो को "प्रच्छन्नवेदान्ती" कहना अधिक उपयुक्त होगा।[3] दोनों की समानता बतला कर सी0 डी0 शर्मा कहना चाहते हैं कि दोनों ही एक सम्प्रदाय के पोषक होने के कारण एक दूसरे के विरूद्ध न होकर प्रकट बौद्ध तथा प्रकट वेदान्ती हैं।[4] जो युक्तियुक्त भी हैं। गौड़पाद ने अद्वैत की अवधारणा

---

1 नैतद्बुद्धेन भाषितम् । - गौ0 का0 4199 ।

2. द गौड़पाद: टी0 एम0 पी0 महादेवन, पृ0 189-231 ।

3 बौद्धदर्शन और वेदान्त, डॉ0 सी0 डी0 शर्मा, पृ0 143 ।

4 वही, पृ0 143 ।

उपनिषदों से ली है। द्वैत के निरास के द्वारा अद्वैत का प्रतिपादन उपनिषदों में मिलता है। चूंकि सभी आचार्यो ने अपने मूलतत्वों को उपनिषदों से ही लिया है। इसलिए कुछ समानता स्वाभाविक है। वस्तुतः देखा जाय तो आचार्य गौड़पाद ने माध्यमिकों के निषेधात्मक तर्क को उपनिषदों के भावात्मक आदर्शवाद के साथ ही एक पूर्ण इकाई के अन्दर संयुक्त करने का प्रयास किया है।

(ख) शांकर वेदान्त में चैतन्य का स्वरूप एवं महत्व

भारतीय चिन्तन के अजस्र मंथन के परिणामस्वरूप अद्वैत चिन्तन का निर्मल नवनीत सर्वप्रथम जन-मानस के लिए आचार्य शंकर की कृतियों में ही उपलब्ध हो सका। प्रस्थानत्रयी में अद्वैत चिन्तन का स्वरूप स्पष्ट रूप से मुखरित तो हुआ, किन्तु इसे परिष्कृत, परिमार्जित कर, बुद्धि, तर्क की परिधि से वैष्ठितकर, श्रुतियों के साक्ष्यों से निभ्रन्ति सिद्ध करने का अपूर्व, अद्वितीय प्रयास आचार्य शंकर ने ही किया है। आचार्य शंकर प्रस्थानत्रयी के अनुपम व्याख्याता हैं जिसमें एक ओर सृष्टि का वर्णन किया गया है, तो दूसरी ओर नाना विषयात्मक संसार को मिथ्या कहा गया है। इन दोनों बातों का सामंजस्य कैसे किया जाय? यह सृष्टि सत्य है तो नानात्व को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है? यदि ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण एवं निर्विकार है तो वह सृष्टिकर्ता कैसे हो सकता है? यदि अद्वैत ही सत्य है तो नानात्व जो कि हमारी ज्ञानेन्द्रियों का साक्षात् विषय है तथा प्रत्यक्षीभूत है, कैसे नकारा जा सकता है? स्यात् ये ही वे प्रश्न रहे होंगे जिन्होंने आचार्य शंकर के मन-मानस को भी उत्तरित होने की चेष्टा में उद्विग्न किया होगा। आचार्य

शंकर ने प्रस्थानत्रयी की त्रिवेणी से तथा अपनी अनुभूतियों, तर्कों के पावन संगम से अद्वैत-ज्ञान-सागर का सृजन किया है जिसकी निर्मलता एवं समग्रता में द्वैत-प्रपंच एवं नानात्व की विविध धारायें समाहित हो तदाकार हो जाती हैं।

अब यहां प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि अद्वैत महासागर से किस प्रकार नानात्व की धाराएं निस्सरित होती हैं तथा किस प्रकार पुनः उसमें तदाकार हो जाती हैं? प्रपंच एवं नानात्व की बहुविध धाराओं के निष्क्रमण एवं प्रत्यागमन के होने पर भी किस प्रकार वह निर्विकार एवं अपरिवर्तित बना रहता है?

आचार्य शंकर पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र पारमार्थिक विशुद्ध चैतन्य को स्वीकार करते हैं जो सत्, अद्वितीय, शुद्ध, ज्ञान स्वरूप, निर्मल, शांत आदि-अन्तरहित, अक्रिय एवं सदैव आनन्द स्वरूप हैं।[1]

पुनः उसी विशुद्ध चैतन्य की स्वरूप विवेचना में आचार्य शंकर कहते हैं कि वह समस्त मायिक भेदों से रहित, नित्य, सुख-स्वरूप, कला रहित तथा प्रमाणादि का अविषय है तथा वह कोई अरूप, अव्यक्त, अनाम और अक्षम तेज है जो स्वयं प्रकाशित हो रहा है[2] तथा ज्ञाता-ज्ञान एवं ज्ञेय की त्रिपुटी से रहित, अनन्त, निर्विकल्प, केवल और अखण्ड चैतन्य मात्र है[3] और वह अविषय, अप्रमेय और आदि-अन्तरहित महान् पूर्ण ब्रह्म मैं ही हूँ।[4]

---

1 अतः परं ब्रह्म सदद्वितीयं
विशुद्धविज्ञानधन निरंजनम् ।
प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं
निरन्तरानन्दरसस्वरूपम् ।। -- वि0 चू0 239 ।

2 वही, 240 ।

3 वही, 241 ।

4 अहेयमनुपादेयं मनोवाचामगोचरम् ।
अप्रमेयमनाद्यन्तं ब्रह्म पूर्णमह महः ।। -- वही, 242 ।

इस प्रकार आचार्य शंकर आत्मा एवं ब्रह्म के बीच पूर्ण अभेद स्थापित करते हैं। यह आत्म-स्वरूप ब्रह्म देश[1], काल[2], वस्तु[3] से अपरिचिछन्न है।

ब्रह्म के दो रूप हैं। उसका पारमार्थिक रूप परब्रह्ममाख्यक है। जिसका उपदेश अविद्याकृत नामरूपादि विशेषों के प्रतिषेधपरक अस्थूलादि शब्दों से श्रुतियों में किया गया है। यही ब्रह्म नामरूपादि विशेषों से बिशिष्टमाण हो जब उपासना के लिए ''मनोमय: प्राणशरीरो भारूप:''[4] इत्यादि शब्दों में उपदिष्ट होता है तब उसे अपर ब्रह्म कहा जाता है।[5] ब्रह्म-सूत्र-भाष्य[6] में आचार्य शंकर ने पर तथा अपर इन दो ब्रह्म रूपों का उल्लेख करते हुए अपर ब्रह्मवेत्ता के लिए देशपरिच्छेद रहित फल का विधान किया है।

ब्रह्म का सोपाधिक निरूपाधिक दो रूपों में वर्णन करने का अभिप्राय यह नहीं है कि ब्रह्म के दो भेद हैं, क्योंकि व्यापक, निरन्तर एवं निरूपाधिक परब्रह्म ही अविद्या प्रत्युपस्थापित नामरूप विशेषों में प्रविष्ट व्यवहारापन्न-सा होकर सोपाधिक प्रतीत होता है। सोपाधिक रूप में प्रतीत होने पर भी ब्रह्म अपने पारमार्थिक स्वरूप में निरन्तर पूर्ण बना रहता है तथा अपने ब्रह्म भाव का परित्याग नहीं करता।[7] ब्रह्म का वह सोपाधिक

---

1 तैत्तिरीय उपनिषद् शांकर भाष्य 2/1 ।
2 वही तथा श्वो0 उप0 शां0 भा0 पृ0 237 (गीताभाष्य)
3 तै0 उप0 शा0 भा0 2/1 तथा सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह, पृ0 189 ।
4 छा0 उप0 3।14।2 ।
5 ब्र0 सू0 शां0 भा0 4।3।14, 1।1।12 ।
6 वही, 1।3।13 ।
7 तैत्तिरीय उपनिषद् शांकर भाष्य 5।1।1 ।

रूप शंकर के अनुसार ईश्वर है।[1] व्यवहारावस्था पर्यन्त इस सोपाधिक ईश्वर की सत्ता है और वह सत्ता व्यवहारिकी है।[2] परमार्थावस्था में तो ईशित्व तथा ईशित्रव्यत्वादिक सम्पूर्ण व्यवहारों की सत्ता असम्भव है।

किन्तु यहां प्रश्न उठता है कि यदि परब्रह्म (विशुद्ध चैतन्य) एक है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं तो फिर वह उच्चावच प्रपंच कैसे प्रतिभासित होता हैं?

इसके उत्तर में शंकर ने श्रुति, युक्ति एवं अनुभव के आधार पर एक ऐसी बीजभूत परमात्मशक्ति का सदभाव माना है, जिसके व्यपाश्रय से अद्वय ब्रह्म इस नाम रूपात्मक प्रपंच जगत् की कारणता का निर्वहण करता है। वह शक्ति माया है, जो न सत् है और न ही असत्। यदि सत् होती तो सर्वदा सर्वत्र होती और कभी बाधित न होती, किन्तु – 'भूयश्चान्ते विश्बमायानिवृत्तिः' इत्यादि श्रुतियों से ज्ञात होता है कि तत्वज्ञान से इसकी निवृत्ति हो जाती है। माया असत् भी नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर वह नामरूपात्मक प्रपंच के पदार्थ सार्थ की अवभाषिका न हो पाती। 'अहमज्ञः' इत्याकारक अनुभव गोचर अविद्या को असत् नहीं कह सकते। अतः सत् एवं असत् तथा तदुभय विलक्षण होने के कारण अनिवर्चनीय है।[3] शंकर ने अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर अविद्या (माया) का अनादि, अनिर्वचनीय,

---

1 वही, 2।3।1 ।

2 वही, 2।1।15 ।

3 सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो ।
सांगाप्यनंगा ह्युभयात्मिका नो, महाद्भुता निर्वचनीयरूपा ।।
विवेकचूडामणि-111, तथा ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य-23/1/14 ।

त्रिगुणात्मिका, भावरूपा[1] तथा नैसर्गिक[2] आदि शब्दों से वर्णन किया है। इस अविद्यात्मिका बीजशक्ति का आश्रय परमेश्वर है।[3] यद्यपि शांकर ग्रन्थों में अविद्या बहुशः परमेश्वराश्रिता तथा परमेश्वर की शक्ति रूप में वर्णित की गयी है तथापि यह आत्मा के स्वाभाविक धर्म के रूप में नहीं स्वीकृत हो सकती हैं।[4]

अपनी इसी शक्ति मूलाविद्या को अपने वश में करके ईश्वर मायिक जगत् की सृष्टि करता है। अविद्या का मुख्य कार्य परत्र परावभास रूप अध्यास हैं अविद्या संवृत सत् सर्वदा रहता हुआ भी लक्षित नही होता।[5] मिथ्याचार रूपा माया या अविद्या आत्मा को बाह्य रूप से अन्यथा प्रकाशित कर अन्यथा ही कार्य करती है।[6] कारण मायिक जगत् के आविर्भाव के मूल में अज्ञान की आवरण एवं विक्षेप नाम की दो शक्तियों की क्रिया स्वीकार की जाती है। आवरण शक्ति की क्रिया के फलस्वरूप आत्मा का स्वरूप आवृत्त हो जाता है तथा विक्षेप शक्ति की क्रिया के फलस्वरूप नाना प्रकार के वैचित्र्य सृष्टि के द्वारा प्रस्फुटित हो उठते हैं। वैचित्र्य के प्रकाशित होने के पूर्व आत्मा के स्वरूप का आवृत होना आवश्यक है। यह स्वरूप शक्तिहीन नहीं होता, अतएव स्वरूप के आवरण के साथ-साथ स्वरूप के साथ अभिन्न भाव से विद्यमान शक्ति का भी आवरण हो जाता है। आत्मा का स्वरूप चिदानन्द मय है यह मानकर इस

---

1 प्रबोधसुधाकर 99, वि० चू०, 110 ।

2 वही ।

3 ब्र० सू० शां० भा० 1।4।3 ।

4 बृ० उ० शां० भा० 4।3।20 ।

5 अविद्यया संवृतं सन्नलक्ष्यते तत्रस्थमेवाविद्वभि· । -मु० शा० भा० 3।1।17 ।

6 प्र० उ० शां० भा०, पृ० 13 ।

अभिन्न शक्ति का भी चित्, शक्ति एवं आनन्द शक्ति के नाम से वर्णन किया जाता है। जिसके द्वारा शक्ति का आवरण होता है और विक्षेप का उदय होता है वह भी शक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नही है। वह आत्मा अथवा चित्स्वरूप की हो शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु पूर्वोक्त चित् शक्ति से उसको भिन्न जाति की कहे बिना काम नही चल सकता। चित् शक्ति को अभेद शक्ति के नाम से ग्रहण करने पर इस विपरीत शक्ति को यदि भेद शक्ति कहें तो असंगत नहीं होगा। भेद शक्ति का प्रथम उन्मेष भेद ज्ञान के रूप में प्रकट होता है। सृष्टि विषयक जो ज्ञान हमें होता है, वह इस भेद ज्ञान का ही नामान्तर है। यद्यपि यह भेद आत्मा अथवा ब्रह्म को अवलम्बन करके ही उदित होता है, तथापि इसके पहले आवरण-शक्ति की क्रिया होती है, अतएवं आत्म स्वरूप का भान नहीं होता। यह ज्ञान नहीं होता कि एक ही आत्मा विद्यमान है और प्रकाशित हो रही है। अपितु नानात्व का भाव होता है। इसी कारण इस सृष्टि को अज्ञानमूलक सृष्टि कहते है। सकल नामरूपभेद वाचारम्भणमात्र होने के कारण अविद्या कल्पित है।[1] ईश्वरादि स्थावरान्त पदार्थ-सार्थ अविद्यावस्थापर्यन्त तक ही सम्भव है। जगत् के आविद्यक अध्यास को भी शंकर ने अविद्या की आख्या दी है।[2] जिस प्रकार प्रसिद्ध रजक का प्रसिद्ध शुक्ति में आरोप अविद्या है, उसी प्रकार देहादि अनात्मा में अहमस्मि इत्याकारक आत्मबुद्धि अविद्या है।[3] स्पष्ट शब्दों में अविद्या के कार्यो का अविद्या व्यतिरिक्त स्वरूप नहीं है।

---

1 वाचारम्भणमात्रत्वाच्चाविद्याकल्पितस्य नामरूपभेदस्य ।
-ब्र0 सू0 शां0 भा0 सृ0 401 ।

2 तमेतमेवं लक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्या इति मन्यन्ते। अभ्यास भाष्य ।

3 ब्र0 सू0 शां0 भा0 1/3/2 ।

आनन्द रूप आत्मा अविद्या के कारण परिच्छिन्न प्रतीत होता है।[1] अपरिच्छिन्न परब्रह्म अविद्यक वस्तु की भ्रांति से उसी प्रकार परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है जैसे अच्छिन्न, पृथ्वी, ग्राम, क्षेत्रादि उपाधियों से छिन्नवत् दृष्टिगोचर होती है।[2] कहने का आशय यह है कि अविद्या एवं उसके कार्यजगत आत्म परिच्छेद के कारण हैं जिनसे परिच्छिन्न हो आत्मा ईश्वर तथा जीवादि रूपों में प्रतीत होता है। परमार्थतः आत्मा का परिच्छेद से कोई सम्बन्ध नहीं है। कारण, वह सर्वगत है। उसको एक स्थान पर परिच्छन्न मान लेने पर आत्मा के अनित्यत्व का प्रसंग होगा तथा उसकी सर्वात्मकता व्याहत होगी। आत्मपरिच्छेद कल्पित है, क्योंकि परिच्छिन्न होते हुए भी आत्मा सर्वगत[3], नित्य[4] तथा महाप्रपंचावच्छिन्न होते हुए एक[5] माना जाता है।

इस अविद्या रूप उपाधि से परिच्छिन्न ब्रह्म का ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व तथा जगतकारणत्वादिक सिद्ध होता है। कारण, ब्रह्म में स्वतः इन व्यवहारों की उपपत्ति असम्भव है।[6] अदृश्यत्वादिक गुणक भूतयोनि परमात्मा है, सांख्याशास्त्राभिमत अचेतन प्रधान या उपाधि परिच्छिन्न जीव नहीं, क्योंकि "अदृश्यत्वादिगुणकोधर्मोत्के:" (ब्र0 सू0 1।2।21) न्याय से सर्वज्ञत्व और सर्ववित्त्व परमेश्वर के धर्म कहे गये हैं। "विशेषण भेदव्यपदेशाम्भां च

---

1 तै0 उप0 शा0 भा0 217 ।

2 सर्ववेदान्तसिद्वान्तसारसंग्रह, श्लोक 696-97 ।

3 वि0 चू0, श्लोक 545 ।

4 प्र0 उप0 शां0 भा0 612 ।

5 सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह, श्लोक 453 ।

6 तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदा... ... ... उपपद्यते ।
- ब्र0 सू0 शां0 भा0 2।1।14 ।

नेतरो" (1।2।22) सूत्र से भी परमेश्वर का भूतयोनित्य सिद्ध होता है।[1] अन्तर्यामी भी यही परमात्मा है जीव नहीं। यद्यपि द्रष्टृत्वादिक जीव के धर्म हो सकते हैं परन्तु घटाकाशवत उपाधि **परिचिछन्न** जीव न तो पृथिव्यादि के अन्तर्गत हो सकता है और न उसका नियामक बन सकता है।[2]

जिस प्रकार घट, **करक** इत्यादि उपाधियों के कारण अपरिच्छिन्न आकाश घटाकाश, करकाकाश इत्यादि परिच्छिन्न रूप में अवभासित होता है, उसी प्रकार अनवच्छिन्न परमात्मा ही देहेन्द्रिय मनो बुद्धि उपाधियों से परिच्छिद्यमान-सा हो शरीर (जीव) रूप से व्यपदिष्ट होता है।[3]

शांकर ग्रन्थों के परिशीलन से यही स्पष्ट होता है कि शंकर जीव को मुख्यतः एक और उपाधिवशात् नाना मानते थे। "एकमेकत्वं नानात्वम् च हिरण्यगर्भस्य तथा सर्वजीवानाम।"[4] अर्थात् जीव हिरण्यगर्भवत् समष्टिबुद्धयुपाध्यवच्छिन्न चैतन्य के रूप में एक है, किन्तु नाना व्यष्टि बुद्धयुपाध्यवच्छिन्न चैतन्य के रूप में नाना प्रतीत होता है। मुख्यतः ब्रह्म एक ही है पर उपाधि से अवच्छिन्न होने के कारण वह अनेक नाम रूपों में निर्भासित-सा होता है। परमात्मा का यह जीव भाव उपाधिनिबन्धन है।[5] उपाधि सम्बन्ध के बिना जीव का स्वतः कोई आधार नही, क्योंकि उपाधि

---

1 वही, 1।2।22 ।

2 वही, 1।2।21 ।

3 वही, 1।2।6 : 1।2।20, 21:1।3।14 : 1।4।18 ।

4 बृ० उ० शां० भा० 1।4।6 ।

5 बृ० सू० शां० भा० 2।1।14 ।

सम्बन्ध के अभाव में ब्रह्म से पृथक् न होने के कारण जीव स्वमहिम प्रतिष्ठ है।[1]

जीव वस्तुतः ब्रह्म है इसलिए शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य के द्वितीय अध्याय के आत्माधिकरणभाष्य[2] में कहा कि जीवोत्पत्ति विषयक श्रुति का अभाव होने के कारण जीव की उत्पत्ति सम्भव नही है, क्योंकि श्रुतियों में जीव के नित्यत्व, अजत्व और अविकारित्व का उपदेश किया जाता है तथा अविकृत ब्रह्म का ही जीवात्मना तथा ब्रह्मात्मना अवस्थान विदित होता है। ''न जीवोम्रियते''[3], ''न जायते म्रियते वा विपश्चित्''[4], ''अजोनित्योशाश्वतोऽयं पुराणः''[5], ''तत्त्वमसि''[6], ''अहम्ब्रह्मास्मि्''[7], ''अयमात्मा ब्रह्मसर्वानुभूः''[8] इत्यादि श्रुतियां जीव के उत्पत्ति एवं विनाश का निषेध करती है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि जीव एकमात्र विशुद्ध चैतन्य ही है जो अविद्यावश आत्म स्वरूप को विस्मृत कर देता है तथा प्रपंच, नानात्व एवं जड़त्व से अपना तादात्म्य स्थापित कर-मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, मोटा या पतला हूँ? इत्यादि स्थितियों में बँध जाता है।

---

1 न ह्युपाधि सम्बन्धमन्तरेण स्वतः एव जीवस्य आहारः कश्चित संभवति, ब्रह्माव्यतिरेकेन स्वमहिम प्रतिष्ठत्वात्। - ब्र0 सू0 शां0 भा0 3।2।7 ।

2 वही, 2।3।17 ।

3 छा0 उप0 6।11।3 ।

4 क0 उप0 2।18 ।

5 वही, 2।18 ।

6 छा0 उप0 6।8।7 ।

7 बृ0 उप0 1।5।10 ।

8 वही, 2।5।19 ।

लेकिन यहाँ फिर एक प्रश्न उठ जाता है कि जीव जिस जड़त्व से अपना तादात्म्य बनाता है, उसका स्वरूप क्या है? यदि वह विशुद्ध जड़ है तो अपने को कैसे प्रकाशित करता है? जड़ प्रकाश स्वरूप नहीं हो सकता। अतः मूल प्रश्न यही है कि जगत् की क्या स्थिति है क्या वह विशुद्ध चैतन्य से नितान्त असम्पृक्त है?

आचार्य शंकर कहते हैं कि नाम रूपों से व्याकृत अनेक कर्ता तथा भोक्ता से संयुक्त, प्रतिनियत, देशोत्पादक, प्रतिनियत, कालोत्पादक, प्रतिनियत निमित्त, प्रतिनियत क्रिया तथा प्रतिनियत फल वाले पदार्थो के आश्रयभूत जगत[1] को आचार्य शंकर ने बाह्य तथा आध्यात्मिक इन दो रूपों में विभक्त किया है।[2]

(1) बाह्य जगत्

नानाविध शुभ, अशुभ तथा व्यामिश्र-कर्मो के सुख-दुःख रूप फलों के साधन पृथिव्यादिलोक बाह्य-जगत् हैं।

(2) आध्यात्मिक जगत्

देव, तिर्यक्र, मनुष्यत्वादि प्रकारक नानाविध जातियों से अन्वित, प्रतिनियत (असाधारण) अवयवों की संघटना (विन्यास) वाले उक्त नानाविध कर्मो के सुख-दुःखात्मक फलों के अधिष्ठान भूत दृश्यमान शरीरादि आध्यात्मिक जगत् है।[3]

---

1. ब्र0 सू0 शां0 भा0 1।1।2 ।
2. वही, 2।1।1 ।
3. "शांकर वेदान्त में चैतन्य"-"डॉ0 शशी देवी सिंह" गौरव प्रकाशन-खजुरी-वाराणसी, प्रथम संस्करण-1988, पृष्ठ-73

यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त उभयविध जगत परस्पर भिन्न नहीं प्रत्युत परस्पर सम्बन्धित है। बाह्य जगत् भोग का साधन है तथा आध्यात्मिक जगत् भोग का आयतन। यदि एक जगत् भोग्य है तो दूसरा भोक्ता। भोग भाव सिद्ध्यर्थ भोग्य तथा भोक्ता भूत इन आध्यात्मिक एवं बाह्य जगत् की परस्पर अपेक्षा स्वभाव सिद्ध है।

शांकर ग्रन्थों के पर्यालोचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे मायावश ब्रह्म को जगत् का कारण मानते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि[1] जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमत, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव तथा शरीर (जीव) से विशिष्ट ब्रह्म है, वही जगत् का स्रष्टा हैं। जगत् का उपादान तथा निमित्त दोनों कारण ब्रह्म हैं, मात्र निमित्तकारण[2] नहीं, यद्यपि यह जगत् एवं तत्कारणता दोनों मायामूलक हैं।

भाव यह है कि जगत् कारण ईश्वर है और जो अपनी अनिर्वचीय शक्ति माया की सहायता से इसका सृजन करता है। विशुद्ध चैतन्य ही अन्दर-बाहर सर्वत्र समाया हुआ है। उसी के ही प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित है-**तमेव भान्तमनुभांति सर्वतस्य भाषा सर्वमिदम्विभाति।**

जीव इसी मायिक जगत् से अविद्यावश अपना तादात्म्य बना लेता है और सुख-दुःख का अनुभव करता हुआ कर्म-फल भोग की श्रृंखला में

---

1 यत्सर्वज्ञ सर्वशक्ति...निमित्तकारणम् चुतद्वयं जगतः स्रष्ट्र बूयः ।
-ब्र0 सू0 शां0 भा0 2।1।22 ।

2 प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माम्युपगन्तव्यम् निमित्तकारणं च। न केवल निमित्तकारणम् ।-ब्र0 सू0 शा0 भा0 1।4।23 ।

बँधा रहता है। जीव के समस्त दुष्कृत्यों सुकृत्यों का निरन्तर ज्ञान रखने वाला चैतन्य साक्षी है जो उदासीन भाव से जीव के सोने पर भी जागते हुए सुषुप्ति, स्वप्न का द्रष्टा बना रहता है। यह चैतन्य का अन्त:करणोपहित रूप है, जब कि जीव अन्त:करण विशिष्ट चैतन्य है।

इस प्रकार ईश्वर, जीव साक्षी, जगत् आदि जो भी सत्ताएं हैं, वे व्यावहारिक हैं। परमार्थत: एकमात्र विशुद्ध चैतन्य है जो पूर्ण सत् है, किन्तु जब तक हम व्यवहार दशा में हैं, हमें भ्रम बना रहता है और व्यवहार सत्य ही प्रतीत होता है। किन्तु बन्धन रूप अज्ञान के नष्ट होते ही चैतन्य की विविध प्रतीतियां जो माया जन्य हैं। निर्मूल सिद्ध हो जाती हैं और समस्त प्रपंचों का उपशम हो जाता है। अनात्मबुद्धिनिवृत्ति होते ही जीव को ज्ञान प्राप्त हो जाता है।[1]

वस्तु स्वरूपावधारण ही शंकर के शब्दों में विद्या या ज्ञान है।[2] अज्ञान के कारण अवच्छिन्न आत्मा अज्ञान के नाश से उसी प्रकार स्वयं प्रकाशित होता है जैसे मेघ के अपाय होने पर सूर्य।[3] अविद्या के कारण परिच्छेदापन्न आत्मा जब विद्यावशात् निज स्वरूपावगम कर लेता है तब उसे यह अवगति हो जाती है कि मैं अविद्या जनित उपाधि परिच्छिन्न अन्य मायात्मा (जीव) नहीं अपितु उपाधि विलक्षण, संसारधर्मशून्य, सर्वभूतस्थ, सर्वात्म परमेश्वर ही हूँ।[4] मिथ्याज्ञानापाय का एकमात्र साधन ब्रह्मात्मैकत्व-

---

1. शां0 भा0 गीता, पृ0 374 ।
2 वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहु:।-ब्र0सू0शा0 1।1।1 ।
3 अवच्छिन्न इवाज्ञानात्तानाशाष्येति केवलम् ।
स्वंप प्रकाशो ह्ययात्मा मेद्यापाये शंमनिव ।।-आत्मबोध, पृ0 13 ।
4. मुण्ड0 उप0 शां0 भा0 3।1।13 ।

विज्ञान है जो शंकर के मतानुसार न संपद्रूप है, न अध्याय रूप है, न विशिष्ट क्रिया योगनिमित्त और न संस्कार रूप है।[1] तथा ''तत्त्वमसि'', ''अहंब्रह्मास्मि'' इत्यादि महावाक्यो का श्रवण-मनन-निदि्ध्यासनानुगामी है, क्योंकि श्रवणादि को ज्ञेय का साक्षात् साधना माना गया है।[2] इस प्रकार साधन चतुष्टय तथाा श्रवणादि के द्वारा अज्ञानी जीव प्रकाशस्वरूप अपने परमार्थत्व को प्राप्त कर लेता है। यही मोक्ष है।[3] मुक्ति प्राप्ति के उपरान्त जीव के समस्त क्लेश समाप्त हो जाते हैं तथा उसकी पुनरावृत्ति आदि का भय समाप्त हो जाता है।

उपर्युक्त समस्त विवेचनों के आधार पर यही निष्कर्ष व्यंजित होता है कि ब्रह्म ही एकमेव परमार्थ सत्, विशुद्ध चैतन्य है। जो समस्त द्वैतों से रहित एकमात्र सत्य है। समस्त विभाजनों से रहित यह एक अपने में पूर्ण सत्ता, तथा मूल चैतन्य ब्रह्म ही है। जिसे निरपेक्ष सत्ता भी कह सकते हैं। इस सत्ता का निरूपण केवल निषेधात्मक विधि से ही सम्भव है इसे इतना ही निरुपति किया जा सकता है कि वह सत्ता है जिसमें कोई विशेषण आरोपित नहीं हो सकता, निषेधात्मक वर्णन ही एकमात्र सम्भव वर्णन है। मूल चैतन्य ही माया, अविद्यावश विविध रूपों में प्रतीत होती है। ये प्रतीतियाँ अज्ञान जन्य हैं, ऐसा कुछ भी वास्तव में नहीं होता तथा जगत् ब्रह्म

---

1. ब्र0 सू0 शां0 भा0 1।1।4 ।
2. ब्र0 उप0 शा0 भा0 1।4।2 ।
3. फल चमोक्षो विद्यानिवृत्तिर्वा । बृ0 उप0 शां0 भा0 1।4।7 तथा 4।3।20 ।

का परिणाम न होकर विवर्त है। यह शंकर का मौलिक उपार्जन है। नानात्व की इन प्रतीतियों से ब्रह्म उसी प्रकार अप्रभावित रहता है, जिस प्रकार चंचल जल में प्रतीयमान सूर्य जलधाराओं से। इस प्रकार नानाविध श्रुतियों, तर्कों की सहायता से आचार्य प्रवर चरम सत्ता की विविध प्रतीतियों को मिथ्या सिद्ध करते है एवं अपने अद्वैत दर्शन के उस अद्वैतरूप विशुद्ध चैतन्य की सिद्धि करते हैं। वही परमकृत्य है इसी में आनन्द है, उसको भूलने से बन्धन तथा उसका ज्ञान प्राप्त करने से मुक्ति मिलती है।

(ग) शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में चैतन्य का स्वरूप

शंकराचार्य ने संहिताओं, उपनिषदों, आरण्यकों, ब्राह्मणों, एवं श्रीमदभागवद्गीता आदि के आधार पर जिस अद्वैतवाद सिद्धान्त की व्यवस्थित एवं सैद्धान्तिक स्थापना की थी, उसकी विस्तृत एवं आलोचनात्मक व्याख्या उनके परवर्ती दार्शनिकों ने की। जिस प्रकार शंकराचार्य ने नवीन एवं मौलिक उदभावना शक्ति के द्वारा उपनिषद् दर्शन का मन्थन करके अद्‌भुत अद्वैत रत्न की खोज की थी, उसी प्रकार शंकराचार्य के शिष्यों एवं अन्य परवर्ती आचार्यो ने प्रतिभासम्पन्न एवं सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि के द्वारा शंकराचार्य के अद्वैत रत्न का समीक्षात्मक निरुपण किया था। इस प्रकार शंकराचार्य के परवर्ती प्रमुख आचार्यो के अद्वैतवादी दर्शन में चैतन्य का स्वरूप निम्नवत् है।

(i) सुरेश्वराचार्य

अद्वैतवादी शांकर वेदान्त में आचार्य सुरेश्वर का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। शंकराचार्य ने जिस अद्वैत सिद्धान्त की स्थापना एवं समालोचना की थी, उनकी व्याख्या सुरेश्वराचार्य ने सम्पन्न की थी। सुरेश्वराचार्य का प्रमुख दार्शनिक देन आभासवाद का सिद्धान्त है। सुरेश्वराचार्य जगत् का न तो प्रतिबिम्ब स्वीकार करने के पक्ष हैं और न अवच्छेद प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छेदवाद के विपरीत के जगत् को आभास मात्र मानते हैं।[1] पुनः उन्होंने प्रत्यंग मात्र चेतन से व्यतिरिक्त अन्य समस्त नामरूपात्मक पदार्थो को चिदाभास कहा है।[2] भाव यह है कि एकमात्र विशुद्ध चैतन्य से पृथक् जो कुछ भी दृश्यमान है, उसमें रंचमात्र भी सत्यता नहीं है। वह केवल चैतन्य का आभास हैं अत: कहा जा सकता है कि चैतन्य का आभास न तो वास्तविक है और न अवास्तविक, न चैतन्य व्यतिरिक्त है न चैतन्याव्यतिरिक्त है।[3] अविचारित संसिद्धितम के समान इसका उद्भव है अतः यह अविचारित संसिद्धि है।[4] आभास कारणता का वह काल्पनिक तत्व है; जिसके अभाव में नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव निष्क्रिय निरंजन, निर्लिप्त ब्रह्म का अनेक नाम-रूपात्मक प्रपंच के रूप में अवभासन सम्भव नहीं, क्योंकि आभासरूप (आधार) फलक पर समारूढ़ होकर ही चेतन तत्व अज्ञान एवं अज्ञानज भूमियों में स्थित पर

---

1 बृहदा० भा० वा० पृ० 1।2।45 ।

2 तदन्यद्यन्तदाभासं...। बृ० उ० भा० वा०, 2।3/191 ।

3 वही, 2।3।21-22 ।

4 अविचारित संसिद्धितमौवत्स्यान्तद्वुद्भवम् ।
कृत्स्नं जगदतो मोहध्वस्तो ध्वस्तं भवेच्चितिः । -- वही, 2।1।4।1329 ।

असम्बद्ध रह ईश्वराद्यात्मक रूपों में प्रतीत होता है।[1] प्रत्यक् चैतन्यरूप[2] आत्मवस्तु के इस आभास को सुरेश्वराचार्य ने कर्तृत्व भोक्तृत्वादि सम्पूर्ण अभिमान का मूल माना है।[3] यद्यपि अज्ञान तथा अज्ञानज वस्तुव्रात इन सब में आभास, नित्य, अन्वित रहता है,[4] तथापि अज्ञानादि उपाधियों के नाश होने पर आभास का संहार उसी प्रकार हो जाता है जैसे घटोदकादि के नष्ट होने पर तद्गत अर्क का प्रविलयन् हो जाता है।[5]

सुरेश्वराचार्य के मतानुसार व्यावहारिक, सत्यों से पूर्ण जगत् की सत्ता उसी प्रकार आभासमात्र होने के कारण मिथ्या है, जिस प्रकार कि मायिक (ऐन्द्रजालिक) विषय आभासमात्र होने के कारण मिथ्या होते हैं। दोनों में इतना ही अन्तर है कि व्यावहारिक जगत् के सत्य, अन्तर है कि व्यावहारिक जगत् के सत्य, जगत् में अविद्या के कारण, सत्य दिखाई पड़ते हैं और मायिक (ऐन्द्रजालिक) विषयों का मिथ्यात्व व्यावहारिक जगत् में ही होता है। परन्तु व्यावहारिक जगत् की सत्यता भी तभी तक कही जा सकती है जब तक कि सिद्ध अविद्या की निवृत्ति नहीं होती । जिस प्रकार कि मूर्छित अवस्था में किसी व्यक्ति को ऐसी वस्तुओं की सत्यता प्रतीत होती है जो इस व्यक्ति के सम्मुख नही उपस्थित होती और मूर्छा हटने पर

---

1. स्वाभास फलकारूढ़ स्तदज्ञानज भूमिषु ।
   तत्स्थोऽपि तदसम्बद्ध ईश्वराद्यात्मतां गतः ।-बृ0 उ0 भा0 वा, 1।3।53 ।
2. वही, 4।3।1174 ।
3. वही, 4।3।73 ।
4. वही, 3।4।151 : 1।4।834 ।
5. बुद्धियादिकार्य संहारे प्रत्यक् चैतन्य रुपिणः ।
   चिद्बिम्बस्यापि संहारो जलार्क प्रविलायपत् ।-वही, 4।3।1174 ।

उस व्यक्ति के मूर्छाकाल की वस्तुएँ मिथ्या प्रतीत होती है, उसी प्रकार अज्ञान के कारण जिस व्यक्ति को जगत् के समस्त व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं, उसी को परमार्थ बोध होने पर अविद्या निवृत्ति के कारण अविद्याकालिक जगत् के समस्त व्यवहार मिथ्या प्रतीत होते हैं। इस प्रकार आचार्य सुरेश्वर के मतानुसार जगत् की सत्यता आभासमात्र है, वास्तविक नही। इस प्रकार परमार्थ सत्य ब्रह्म के अनेक जागतिक रूपों में आभासन का कारण अविद्या है। व्यावहारिक जगत् की जो सत्यता आभासित होती है, वह किसी काल में भी पारमार्थिक दृष्टि से सत्य नही होती, क्योंकि व्यावहारिक जगत् के सत्य दिखाई पड़ने का कारण अविद्या है। इस प्रकार आभासवाद के आधार पर सुरेश्वराचार्य ने व्यावहारिक जगत् को आभासमात्र कहकर जगत् की व्यावहारिक सत्यता का निराकरण करके अद्वैतवाद (एकमात्र विशुद्ध चैतन्य) की सत्ता का प्रतिपादन किये हैं।

(ii) पद्मपादाचार्य-प्रकाशत्मा और सर्वज्ञात्मा

पद्मपादाचार्य शंकराचार्य के प्रधान एवं सर्वप्रथम शिष्य थे। इनकी प्रमुख रचना पंचपादिका है। आचार्य पद्मपाद ब्रह्म को ही अविद्या का आश्रय एवं विषय स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार नाम, रूप, अव्याकृत, अविद्या, माया, प्रकृति, अग्रहण, अव्यक्त, तमस, कारण, लय, शक्ति, महासुप्ति, निद्रा, क्षर, आकाश आदि सब अविद्या के ही दूसरे नाम हैं।[1] अविद्या अनादि है और जड़ात्मिका है, शक्ति रूपा है। ब्रह्म के स्वप्रकाशत्व पर यह एक प्रकार से आवरण-सा है। यही जीवत्व की जननी है। यही जगत्

---

1. पंचपादिका, पृ0 20 ।

का उपादान कारण है। यह वह चित्रभित्ति है जिस पर अज्ञान, कर्म और पूर्वप्रज्ञा संस्कार का अनादि चक्र जो जीव एवं जगत् दोनों का उत्पादक है, चित्रित है।[1] ब्रह्म को अपना आश्रय बनाकर यह अविद्या स्वयं को दो रूपों में व्यक्त करती है-व्यावहारिक ज्ञान रूप में एवं कर्मरूप में। यही समस्त कर्मो की कर्त्री तथा फलों की भोक्त्री है। इसी के वशीभूत होकर जीव स्वयं को कर्ता एवं भोक्ता मानता है। पद्मपादाचार्य प्रतिबिम्बवाद के पोषक प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार जीव अविद्या प्रतिविम्बित ब्रह्म है। जीव के भी संसारी, विज्ञानधन, विज्ञानात्मा, जीवात्मा, प्राज्ञ, शरीरी, शारीर, आत्मा, सम्प्रसाद, पुरुष, प्रत्यगात्मा, कर्ता, भोक्ता, क्षेत्रज्ञ आदि अनेक नाम है। बुद्धि की दृष्टि से इसको अन्तःकरण, मनस, बुद्धि, अहंकार आदि कहते हैं और जीवनगति की दृष्टि से इसको प्राण कहा जाता है।[2] यह ब्रह्म एवं अविद्या की ग्रन्थि है। यह सत्य एवं अनृत का मिश्रण है। यह अंहकार ग्रन्थि ही संसार नृत्यशाला का मूल स्तम्भ है।[3] ब्रह्म एवं अविद्या की इस उलझी हुई गांठ को विद्या द्वारा सुलझाना ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य हैं।[4]

(iii) प्रकाशात्ममुनि भी अविद्या को भावरूप सिद्ध करते हैं। जीव एवं जगत् का कारण मायायुत ब्रह्म है।[5] यहाँ तीन विकल्प सम्भव हैं। या तो ब्रह्म एवं माया रस्सी की डोरियों की तरह आपस में गुँथे हुए जगत्

---

1 वही ।

2 पंचपादिका, पृ0 20 ।

3 वही, पृष्ठ 35 ।

4 वही, पृष्ठ 4 ।

5 तस्मादनिर्वनीय माया विशिष्टं कारणं ब्रह्मेति प्राप्तम् ।
-पचपादिका विवरण (पंचमवर्णक, पृ0 652-53)।

कारण हों, या माया शक्ति सम्पन्न ब्रह्म जगत्कारण हो या ब्रह्माश्रित माया जगत्-कारण हो, किन्तु इन तीनों विकल्पों में अविद्या या माया का आश्रय या विषय ब्रह्म ही है, क्योंकि अविद्या स्वतन्त्र न होकर ब्रह्म पर ही आश्रित हैं।

ब्रह्म एकमात्र परम तत्व है। यही अविद्या या माया का अधिष्ठान है। सम्पूर्ण भेद, समस्त द्वैत, सर्वप्रपंच इसी विशुद्ध, अभिन्न, अद्वैत एवं प्रपंचातीत तत्व पर प्रतिष्ठित है।[1]

ब्रह्म साक्षात्कार के कारण के सम्बन्ध में प्रकाशात्मा का मत है कि श्रवण ही ब्रह्म साक्षात्कार का प्रधान कारण है।[2] उसका मत है कि यद्यपि मनन एवं निदिध्यासन श्रवण की अपेक्षा आगामी है, फिर भी वे ब्रह्म साक्षात्कार के प्रधान कारण नहीं हैं। अपने मत की पुष्टि के प्रकाशात्मा का तर्क है कि श्रवण का ब्रह्म साक्षात्कार से साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण श्रवण ब्रह्म साक्षात्कार में प्रधान कारण है। इनके विपरीत मनन एवं निदिध्यासन ब्रह्म साक्षात्कार के परम्परया कारण है।

(iv) संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि शुद्ध ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानते हैं।[3] मधुसूदन सरस्वती आदि विद्वानों ने संक्षेप शारीरक के शुद्ध ब्रह्म को अविद्या बिम्बत्वोपहित चैतन्य बताया है।[4] अत: जगत् को चिद् उपादानक कहने का अभिप्राय यह

---

1. पंचपादिका विवरण, पृ0 212 ।
2. पंचपादिका विवरण, पृ0 104 ।
3. पंच प्रक्रिया, पृ0 50-51 ।
4. अज्ञानोपहितं तु बिम्ब चैतन्यम् शुद्धमिति संक्षेप शारीरककाराः ।-सिद्धान्तबिन्दुः

नहीं है कि सर्वज्ञात्मन जगत् की सृष्टि में अज्ञान का कोई उपयोग नहीं मानते। कूटस्थ ब्रह्म में स्वतः कारणता नहीं बन सकती। अतः उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अद्वितीय चित् साभास अर्थात् चिदाभास सचित् अज्ञान को उपाधि रूप से पुरस्कृत करके संसार की कारणता का निर्बहण करता है।[1] यद्यपि शुद्ध ब्रह्म संसार की कारणता का अज्ञानोपजीवि है तथापि अज्ञान को जगत् का परम उपादान कारण नहीं माना जा सकता। क्योंकि चेतन से भिन्न जो कुछ भी संसृति का कारण है वह जड़ होने के कारण वेदान्त सिद्धान्त में परम कारण नहीं हो सकता। ''इक्षतेनोऽशब्दम्'' (ब्र0 सू0 3।1।5) आदि सूत्रों के द्वारा भगवान वादरायण ने भी कहा है कि चेतनाधिष्ठित कोई भी जड़ संसार के किसी कार्य का कारण नहीं हो सकता, केवल कारणता में द्वार बन सकता है।[2] अज्ञान भी जड़ पदार्थ है अतः वह जगत् की कारणता में द्वार या सहकारि मात्र है।[3] निष्कर्षतः सर्वज्ञात्ममुनि ब्रह्म को ही अविद्या का आश्रय एवं विषय दोनों मानते हैं। ब्रह्माश्रित अविद्या ब्रह्म के स्वभाव को आवृत-सा करके आभासत्रय को जन्म देती है। ये आभास हैं-ईश्वर, जीव एवं जगत्। वेदान्त की पारिभाषिक शब्दावली में संक्षेप शारीरककार सम्मत ईश्वर का स्वरूप इस प्रकार होगा-

---

1 साभासमेतदुपजीव्य चिद्द्वितीया संसार कारणमिति प्रवदन्ति धीरा· ।
-सक्षेप शारीरक, 1/324 ।

2 संक्षेपशारीरक, 1/324-25 ।

3 वही, 1/323, 332, 555 ।

"स्वाभासविशिष्टाऽज्ञानोपहिता प्रतिबिम्बाऽविविक्ता चित् ईश्वरः" ।

स्पष्ट शब्दों में अज्ञान गत आभासाविविक्त चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर है जब कि अन्तःकरणगत स्वाभासाविविक्त चित् प्रतिबिम्ब जीव है।[1] वेदान्त की पारिभाषिक शब्दावली में जीव का स्वरूप इस प्रकार है।–

"स्वाभास विशिष्टान्तः कारणोपहिता प्रतिबिम्बऽविविक्ता चित् जीवः।।"

वस्तुतः आभास होने के कारण ये तीनों सत्य नहीं हैं, क्योंकि इनकी जननी अविद्या स्वयं ही असत्य है। सत्य केवल ब्रह्म है। ब्रह्म में माया के प्रकट होते ही दो आभास उत्पन्न हो जाते हैं- एक तो माया, दूसरा मायायुत ब्रह्म। इन दोनों का अधिष्ठान शुद्धा ब्रह्म है। मायायुत ब्रह्म व्यावहारिक आधार मात्र है। अविद्या मनोगत न होकर विषयगत होती है। क्योंकि अविद्या का आश्रय उसका कार्य जीव नहीं हो सकता, इसलिए उसे मनोगत नहीं मान सकते और शुद्ध ब्रह्म को भी जो सबका अधिष्ठान है; माया का आश्रय मानना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि वास्तव में माया शुद्ध ब्रह्म को अविद्या का व्यावहारिक आधार पर आश्रय मानते हैं। इस मायायुत ब्रह्म का स्पर्श तक नहीं कर सकती। इसलिए सर्वज्ञात्ममुनि मायायुत ब्रह्म को ही वे प्रत्यक चिद् कहते हैं, क्योंकि यही स्वयं को विविध जीवों के रूप में प्रकट करता है।[2]

संक्षेप शारीरकार भी अविद्या निवृत्ति को मुक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। विद्या का फल होने के कारण मुक्ति कूटस्थनित्य

---

1 वही, 3।278 ।

2 संक्षेपशारीरक, 2।111 ।

है, क्योंकि जो भी लोक में विद्या का फल होता है, वह कूटस्थ, नित्य होता है।[1] मुक्ति किसी हेतु से जन्य नहीं हो सकती, क्योंकि यह विद्या का फल है। लोक में जो विद्या का फल नहीं, वही जन्य होती है।[2] निष्कर्षतः सर्वज्ञात्ममुनि भी अद्वैत ब्रह्म को परमार्थ सत् मानते हुए प्रपंच को अविद्या के कारण उत्पन्न स्वीकार करते हैं जिसका उपशम ज्ञान या विद्या से हो जाता है।

(V) **विमुक्तात्म मुनि** भी इस विशुद्ध आत्म तत्व को अज, अनन्त, अमेय, परमानन्द स्वरूप एवं स्वानुभूति सिद्ध मानते हैं। सत्यं शिवम् एवं सुन्दरम् ब्रह्म वह चित्रभित्ति है, जिस पर जगन्माया का चित्र चित्रित है। जिस प्रकार चित्रभित्ति न तो चित्र का उपादान है, न अंश, न अंग और न भाग एवं न चित्र, चित्रभित्ति का विकार है और न वह चित्रभित्ति का परिणाम है। चित्रभित्ति चित्र से पूर्व विद्यमान थी और चित्र के मिट जाने पर भी विद्यमान रहेगी, किन्तु चित्र चित्रभित्ति के बिना नहीं रह सकता। यही सम्बन्ध ब्रह्म एवं माया में भी हैं।[3] माया सदसत् विलक्षण, अनिर्वचनीय है। अविद्या (माया) जगदुपादानरूप, भावरूप, शक्तिरूप तथा अनिर्वचनीय अज्ञान है। अनिर्वचनीय होते हुए भी अविद्या की निवृत्ति विद्या द्वारा हो जाती है। जिस प्रकार रज्जू का ज्ञान हो जाने पर उसे सर्प समझ लेने की भ्रान्ति समाप्त हो जाती है।

---

1 वही, 4।29 ।

2 वही, 4।32 ।

3 इष्टसिद्धि, पृ0 37 ।

(vi) **श्री हर्ष** भी अविद्या को भावरूप, शक्तिरूप, सदसद्निर्वचनीय मानते हैं। अनिर्वचनीय होने से वह अपने समस्त कार्य जाल सहित वास्तव में मिथ्या है। सत्य ही परमार्थ तत्व विशुद्ध चैतन्य है।

(vii) **यही मत चित्सुखाचार्य** का भी है। उनके अनुसार भी अविद्या भावरूप, शक्तिरूप, सदसद्निर्वचनीय और दुर्घट है। जो अनादि हो, भावरूप हो और जिसका विज्ञान से प्रविलय हो जाय उस अज्ञान को ही अविद्या या माया कहते हैं। अनादि और भावरूप होते हुए भी विज्ञान निरस्य होना अविद्या का लक्षण है।[1] अविद्या न सत् है न असत् न भावरूप है और न अभावरूप । सद्सत विलक्षण या भावाभाव विलक्षण अविद्या को 'भावरूप' कहने का तात्पर्य केवल उसके 'अभावरूप के प्रतिषेध पर बल देना है। उसे भाव रूप कहना इस बात का सूचक है कि वह केवल अभावात्मक या असत् नही है। यही समस्त प्रपंच का मूल कारण है। आत्म तत्व स्वयं प्रकाश, स्वयंसिद्ध है अन्य सब वस्तुयें "आगन्तुक" हैं, क्योंकि ये सब इस आत्म तत्व के प्रकाश से ही प्रकाशित होती हैं। इसका निराकरण नही हो सकता क्योंकि जो निराकर्ता हैं वही इसका स्वरूप है। आत्मा मानवी सविकल्प बुद्धि द्वारा विषय रूप में नही जाना जा सकता, उसके ज्ञान के निर्विकल्पक विशुद्ध विज्ञान की शरण लेनी पड़ती है। इसी विशुद्ध विज्ञान का नाम अपरोक्षानुभूति है। इसी अपरोक्षानुभूति या आत्मानुभूति द्वारा आत्म साक्षात्कार होता है। स्वानुभूति स्वयं

---

1 अनादिभावरूपं यद् विज्ञानेन विलीयते तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षण सम्प्रचक्षते।
अनादित्वे सति भावरूपं विज्ञाननिरस्यमज्ञानम् ।

-तत्वप्रदीपिका, 5/57 ।

प्रकाश है, क्योंकि वह अनुभूति है, जो अनुभूति नहीं है वहस्वयं प्रकाश भी नहीं है। जैसे-घट, पटादि बाह्य विषय[1] भावाभाव विलक्षण अविद्या को ब्रह्मात्मैक्य का सम्यक् ज्ञान समाप्त कर देता है और विशुद्ध चैतन्य ही शेष रह जाता है।

(viii) विद्यारण्यमुनि कृत पंचदशी वेदान्त का एक पुनीत एवं श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं इसमें प्रपंचात्मक जगत्, जगत् के कारण, रूप आत्मा, परमात्मा, जीव-बन्धन, आनन्दमोक्ष आदि की सम्यक् अवधारणा की गयी है। ग्रन्थ का प्रमुख विषय है- जीव एवं ब्रह्म की एकता का तात्विक प्रतिपादन।

विद्यारण्य प्रतिबिम्बवाद के अनुयायी प्रतीत होते है। उनके अनुसार विशुद्ध चैतन्य एक ही है जो सच्चिदानन्द स्वरूप है। वही निर्विकारी चैतन्य जब माया में प्रतिबिम्बित होता है तो ईश्वर[2] एवं जब अविद्या में प्रतिबिम्बित होता है तो उसे जीव कहते हैं।[3] माया एवं अविद्या में यही भेद है कि माया शुद्ध सत्वमयी है तथा अविद्या मलिन सत्वमयी है।[4] विशुद्ध चैतन्य निर्विकार, अखण्ड एकरसात्मक है। उसमें कोई द्वैत प्रपंच नहीं है। वह त्रिकाल बाधातीत है। दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् का बोध हो जाने पर भी जो ब्रह्म शेष रहा जाता है वही स्वप्रकाशात्म रूप ब्रह्म है।[5]

---

1 अनुभूतिः स्वयप्रकाशा अनुभूतित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः, इत्यनुमानम् ।
-तत्वप्रदीपिका, पृ0 11 ।

2 माया बिम्बोवशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वराः । - पंचदशी, 1/16 ।

3 अविद्यावाशगस्त्वन्यसतद्वैचित्र्यादनेकधा ।
सा कारणशरीर स्यात् प्रज्ञस्तत्राभिमानवान् ।। - वही, 1/17 ।

4 वही, 1/16 ।

5 दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्वमीर्यते।
ब्रह्म शब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ।।-वही।

लेकिन प्रश्न उठता है कि वह बाध रहित परमत्व क्यों और कैसे नाना रूपों में प्रतीत होता है? इसके उत्तर में विद्यारण्य का कहना है कि इस प्रतीति का कारण अविद्या है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के आधार पर पंचदशीकार कहते है कि माया प्रकृति उपादान कारण तथा ब्रह्मरूप महेश्वर उसका अधिष्ठान है। वह मायोपाधिा सम्पन्न परमात्मा विश्व का रचयिता हैं क्योंकि **''अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत''** श्रुति का भी ऐसा ही अभिप्राय है।[1] इस प्रकार अनेक श्रुतियों, तर्कों के आधार पर विद्यारण्य स्पष्ट कहते है कि ''वही ईश्वर अपने अविकारी ब्रह्मत्व से विपरीत विकारी जीव रूप धारण करके शरीर में प्रविष्ट हो गया।''[2]

उक्त विवेचनाओं के आधार पर स्पष्ट होता है कि ईश्वर निर्विकार, अखण्ड, एकरस है। परन्तु वही सर्गकाल आने पर बहुत होने की इच्छा से माया की उपाधि को धारण कर मायी कहलाता हुआ सर्ग रचना रूप तपस्या करता हुआ विविध नामरूपों को धारण कर लेता है। इस प्रकार यह जगत् ब्रह्म के द्वारा ही रचा जाना सिद्ध है।

पंचदशी के चित्रदीप प्रकरण के अन्तर्गत विद्यारण्य ने ब्रह्म, कूटस्थ, ईश्वर एवं जीव का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। उक्त तत्वों का निरूपण पंचदशीकार ने आकाश के दृष्टान्त के आधार पर दिया है। विद्यारण्य का कथन है कि व्यापक आकाश का नाम महाकाश है।

---

1 पचदशी 4/2 ।

2 कृत्वा रूपान्तरं जैव देहे प्राविशदीश्वरः । वही, 4।10 ।

छटावच्छिन्न आकाश को घटाकाश; घटवर्ती जल में प्रतिबिम्बित आकाश को जलाकाश तथा मेघ में प्रतिबिम्बित आकाश को जलाकाश तथा मेघ के जल में प्रतिबिम्बित आकाश को मेघाकाश कहते हैं। इसी प्रकार अखण्ड एवं व्यापक शुद्ध चेतन को ब्रह्म और देहरूप उपाधि से परिच्छिन्न चेतन को कूटस्थ कहते हैं। देहांतरगत अविद्या में प्रतिबिम्बित चेतन जीव तथा माया प्रतिबिम्बित चेतन को ईश्वर कहते हैं।[1]

भाव यह है कि अविद्या ही समस्त प्रपंचों दुःखों का मूलकारण है। इस अविद्या का उन्मूलन ज्ञान से ही सम्भव है। ज्ञान की प्राप्ति शास्त्र के अध्ययन एवं सद्गुरू के उपदेश के बिना सम्यक् प्रकार से नहीं हो पाती-परोक्ष ज्ञान का शास्त्रोक्त मार्ग से विचार करने पर ही उस सच्चिदानन्द रूप का निश्चय हो पाता है। अतएवं परोक्ष होने पर भी वह यथार्थ तत्व ज्ञान है। इसलिए उसे भ्रम नहीं समझना चाहिये।[2]

शास्त्राध्ययन आदि के विचार से मार्ग का निश्चय हो जाने पर भी उसको विधिविधान का निर्देश किसी अनुभवी सत्गुरू से लेना श्रेयस्कर है।[3] गुरु उपदेश ग्रहण करने के उपरान्त विचार द्वारा अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति का उपाय करना चाहिए तथा विचारपूर्वक तत्वज्ञान की प्राप्ति में अशक्य पुरुष को आत्मा की ही सद्योपासना करनी चाहिये।

---

1 पंचदशी 6/18/22 ।

2 शास्त्रोक्तेनैव मार्गेण सच्चिदानन्द निश्चयात् ।
परोक्षमपि तज्ज्ञानं तत्त्वज्ञान न तु भ्रमः।।-वही 9/1 ।

3 वही, 9/28-29 ।

इस मार्ग का अनुसरण करने से जीव बन्धन से मुक्त हो विशुद्ध चिदाकारमय हो जाता है।[1]

उपर्युक्त समस्त विवचेनों के आधार पर शंकरोत्तर अद्वैताचार्यो की अद्वैतवादी विचारधारा मुखरित होती है। वे सभी एकमात्र विशुद्ध चैतन्य को परमसत्य के रूप में स्वीकार करते हैं तथा माया एवं अविद्या को ब्रह्म की अनिर्वचनीय शक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए जगत् की उत्पत्ति के मूल में स्थापित करते हैं। ईश्वर जीव आदि की व्याख्या में इन आचार्यो ने आभासवाद तथा प्रतिबिम्बवाद का सहारा लिया है और शंकर द्वारा निरूपित विशुद्ध अद्वैत की भावना को और अधिक सुसम्बद्ध स्पष्ट एवं सशक्त बनाने का प्रयास किया है।

---

1. ''शांकर वेदान्त में चैतन्य''-डॉ0 शशी देवी सिंह गौरव प्रकाशन-खजुरी-वाराणसी; प्रथम सस्करण-1988, पृष्ठ-73

अध्याय-4

चैतन्य के समष्टिगत एवं व्यष्टिगत रूप

(क) विश्व-विराट्

(ख) तैजस्-हिरण्यगर्भ

(ग) प्राज्ञ-ईश्वर

(घ) आत्मा-ब्रह्म

चैतन्य के समाष्टिगत एवं व्यष्टिगत रूप

वेदान्तशास्त्र का विषय जीव और ब्रह्म की एकता अर्थात अभेद (अद्वैत) है जो शुद्ध चैतन्यरूप और इस शास्त्र का प्रमेय है।[1] अद्वैत वेदान्त के अनुसार ईश्वर और जीव दोनो ही अज्ञान की उपाधि से युक्त है। यह अज्ञान सत् या असत् रूप से अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक, ज्ञान का विरोधी, भावरूप कुछ है जो समष्टि के अभिप्राय से एक और व्यष्टि के अभिप्राय से अनेक कहा जाता है, जैसे वृक्षों की समष्टि अभिप्राय से "यह वन है" तथा व्यष्टि रूप से यह वृक्ष है। इस प्रकार ईश्वर और जीव दोनों की तीन-तीन अवस्थाएं होती है। **ईश्वर की सुषुप्त्यवस्था है-प्रलय।** उस समय सूक्ष्म और स्थूल जगत् का कारणभूत अज्ञान अव्याकृत अवस्था में रहता है। जब सुक्ष्म भूतो की सृष्टि के फलस्वरूप सूक्ष्म शरीर उत्पन्न हो जाते हैं तब उसकी स्वप्नावस्था होती है। स्वप्नावस्था का अभिमानी होने पर उसकी हिरण्यगर्भ, सुत्रात्मा, ब्रह्म, आदि संज्ञाए होती है। जब सूक्ष्मभूतो का पञ्चीकरण होकर स्थूलभूत और स्थूल-शरीर उत्पन्न हो जाते है, तब ईश्वर की जागरणावस्था होती है। इस अवस्था का अभिमानी होने पर उसे विराट और वैश्वानर कहते हैं।

जीव की तीन अवस्थाएं लोक प्रसिद्ध हैं। **उसे सुषुप्तिकाल में प्राज्ञ, स्वप्नकाल में तैजस्** और **जागरण में विश्व कहा जाता है।** यह

---

1 ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवों ब्रह्मैव नापरः । वेदान्तसार- "सदानन्द योगीन्द्र" ।

समस्त विषय सर्वप्रथम **माण्डूक्योपनिषद्** में मिलता है। इन समस्त कल्पनाओं का मूल आधार माण्डूक्योपनिषद् ही है।

इन तीनों ''सुषुप्ति स्वप्न एवं जागरण'' अवस्थाओं, तीनों शरीरों- ''कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल'' और पांचों कोशों-अन्नमय प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय आदि से विनिर्मुक्त हो जाने पर वह निरूपाधिक चैतन्य आत्मा-ब्रह्म रूप से स्थित होता है।

एक ही आत्मा के उपाधि से उपहित होने के कारण तीन भेद हैं- विभु, विश्व, वहिष्प्रज्ञ है, तैजस् अन्तःप्रज्ञ है तथा प्राज्ञ ज्ञानप्रज्ञ या प्रज्ञानघन है। इस प्रकार अनुपहित आत्मा तीन प्रकार से कहा जाता है।[1] जाग्रतावस्था में ही विश्व आदि तीनों का अनुभव होता है। दक्षिण-नेत्ररूप द्वार में विश्व रहता है, तैजस् मन के भीतर रहता है, प्राज्ञ हृदयाकाश में उपलब्ध होता है। इस प्रकार एक ही आत्मा शरीर में तीन प्रकार से स्थित है।[2]

विश्व सर्वदा स्थूलपदार्थो को, तैजस् सूक्ष्मपदार्थो को तथा प्राज्ञ आनन्द को भोगने वाला है। इस प्रकार एक ही आत्मा के तीनों रूपों का तीन तरह का भोग है। अतएव स्थूल पदार्थ विश्व की, सूक्ष्म तैजस् की तथा आनन्द प्राज्ञ रूप आत्मा की तृप्ति करता है।[3]

---

1 बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः ।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः ।।- माण्डूक्योपनिषद् गौड़पदकारिका-6-1 (गीता प्रेस गोरखपुर)

2 दक्षिणक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैज्रसः ।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः ।। - वही: 6.2

3 माण्डूक्योपनिषद - गौड़पादकारिका (गोविन्द भवन कार्यालय गीताप्रेस गोरखपुर) पृष्ठ सं. 26

(क) विश्व-विराट्

कारण शरीर और सूक्ष्म शरीरों के समान स्थूलों शरीरों की समष्टि और व्यष्टि के भेद से समष्टि उपहित चैतन्य "वैश्वानर या विराट्" कहा जाता है तथा व्यष्टि उपहित चैतन्य सूक्ष्मशरीर के अभिमान का बिना त्याग किये हुए स्थूल शरीरादि में प्रविष्ट होने के कारण 'विश्व' कहा जाता है।

जाग्रतावस्था जिसकी अभिव्यक्ति का स्थान है जो बहि:प्रज्ञ अर्थात् बाह्य विषयों को प्रकाशित करने वाला, सात अङ्गों वाला, उन्नीस मुखों वाला तथा स्थूल विषयों का भोक्ता है वह **वैश्वानर** पहला पाद है।[1] इस प्रकार जो जागरित स्थान वाला वैश्वानर है वही ओंकार (आत्मा) की पहली मात्रा अकार हैं। यह पहली मात्रा व्याप्ति और आदिमत्व के कारण है।[2]

आकाशदि स्थूलभूतों की उत्पत्ति के विषय के बारे में बताते हैं- जिसके समाष्टि और व्यष्टि के भेद से विराट या वैश्वानर और विश्व का व्यवहार होता है। स्थूलभूत पञ्चीकृत होते हैं।[3] आकाशादि पाँच सूक्ष्मभूतों में प्रत्येक को दो समान भागों में विभक्त करके-प्राप्त होने वाले दस भागों में जो प्राथमिक पाँच भाग है उनमें प्रत्येक के चार समान भाग करके उन चार

---

1 "जागरितोस्थानो बहिष्प्रज्ञ........... स्थूलभुक् वैश्वानर: प्रथम: पाद· ।। - माण्डूक्योपनिषद्-3

2 "जगरितोस्थानो वैश्वानरोऽकरि: प्रथमा मात्रा..............।।" वैश्वानरोऽकार:

3 "स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि.......।।"- श्रीमद् सदानन्दयोगीन्द्र प्रणीत "वेदान्तसार" खण्ड-28

भागों को द्वितीय अविभाजित अर्ध भाग को छोड़कर अन्यभूतों के द्वितीय-अविभाजित अर्धभागों में जोड़ देना ही पञ्चीकरण है।[1]

श्रुतियों में पञ्चीकरण का उल्लेख न होने से पञ्चीकरण के अप्रामाणिक होने की आशंका नहीं करनी चाहिए। पञ्चमहाभूतों के समानरूप से पञ्चात्मक होने पर भी "उनमें अपने-अपने भाग को विशेषभाव या आधिक्य होने के कारण उस-उस नाम से व्यवहार होता है।[2] पञ्चीकरण के अनन्तर **आकाश** में शब्द स्फुट रूप से अभिव्यक्त होता है, **वायु** में शब्द और स्पर्श, **अग्नि** में शब्द, स्पर्श और रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप, और रस तथा **पृथ्वी** में शब्द, स्पर्श रूप, रस, और गन्ध स्पष्ट रूप से प्रकट होते हैं।

इन पञ्चीकृत भूतों से क्रमशः ऊपर के सात लोक-भूः, भूवः स्वः आदि तथा नीचे-नीचे विद्यमान अतल-वितल, सुतलादि नीचे के सातों लोक, समस्त ब्रह्माण्ड, उसके भीतर रहने वाले चतुर्विध स्थूलशरीर तथा उनके निर्वाह योग्य भोजन-पान उत्पन्न होते हैं। उक्त चार प्रकार के शरीर-जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज होते हैं।

चार प्रकार के समस्त स्थूलशरीर क्रमशः एकत्व और अनेकत्व की बुद्धि के विषय होने से वन या जलाशय के समान समष्टि होते हैं।

---

1 द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैयोजनात् पञ्च-पञ्च ते ।।
- विद्यारण्यस्वामी प्रणीत "पञ्चदशी"-1,27.

2 "वैशेष्यान्तद्वादस्तद्वाद......।।" ब्रह्म भाष्य- 2.4.22.

तथा वृक्ष या जलबिन्दु के समान व्यष्टि भी होते हैं। इन स्थूलशरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य सभी (विश्व), नरों (प्राणियों) का अभिमानी या अधिष्ठाता होने से **"वैश्वानर"**[1] और नाना रूपों-यथा-देव, मनुष्य, पशु गिरि नदी और समुद्रादि के रूप में विराजमान के कारण **"विराट्"** कहा जाता है। इस वैश्वानर या विराट् की उपाधिभूता स्थूलशरीरों की यह समष्टि इसका स्थूल शरीर है। अन्न का विकार होने के कारण और कोश के समान आत्मा का आच्छादक होने के कारण इसे अन्नमयकोश कहा जाता है, और स्थूल भोगों का आयतन या आधार होने से स्थूल शरीर तथा जाग्रतावस्था कहा जाता है।

स्थूलशरीरों की व्यष्टि अर्थात् एक स्थूल शरीर से उपहित चैतन्य, सूक्ष्मशरीर के अभिमान का बिना परित्याग किये हुए स्थूल शरीरादि में प्रविष्ट होने के कारण **विश्व** कहा जाता है। इस विश्व का भी उपाधिभूता यह व्यष्टि इसका स्थूल शरीर है। इसे भी अन्नमयकोश तथा जाग्रत कहा जाता है।

पञ्चीकरण के वाद स्थूलशरीर जागरणकाल में इन दोनों विश्व और वैश्वानर-दिक्, वायु, सूर्य, वरूण और अश्विनीकुमारों के द्वारा क्रमशः नियन्त्रित श्रोतादि पञ्च इन्द्रियों से क्रमशः शब्दः स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन स्थूल विषयों का अनुभव (भोग) करते हैं। अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र (विष्णु) यम,

---

1 यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। - छान्दोग्योपनिषद् 5.18.1

और प्रजापति के द्वारा क्रमशः नियन्त्रित वागादि पञ्चकर्मेन्द्रियों से क्रमशः वचन, आदान-प्रदान, गमन, विसर्ग (मलत्याग) और आनन्द (मैथूनजन्य आनन्द) इन स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं। "जाग्रतावस्था जिसका स्थान है, जो बहिष्प्रज्ञ है वह वैश्वानर स्थूलविषयों का भोक्ता है।"[1]

इस प्रकार स्थूलशरीरों की समष्टि और व्यष्टि में तथा उनसे उपहित विश्व और वैश्वानर में अभेद हैं। जिस प्रकार वन और (वन के) वृक्षों में तथा वनावच्छिन्न आकाश और वृक्षावच्छिन्न आकाश में अभेद होता है। उसी प्रकार पञ्चीकृत पांच भूतों से स्थूल प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है।

(ख) तैजस्-हिरण्यगर्भ

अद्वैत वेदान्त में सूक्ष्म शरीर अथवा लिङ्गशरीर 17 अवयवों वाले होते हैं।[2] जिसके द्वारा प्रत्यागात्मा के अस्तित्व का ज्ञापन हो उसे लिङ्गशरीर कहते हैं। इस सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत तीन कोश-विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय होते हैं। इस प्रकार स्वप्नावस्था में सूक्ष्म शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ या प्राण कहा जाता है वैसे ही व्यष्टि से उपहित चैतन्य तैजस् कहलाता हैं। इसका स्पष्ट उल्लेख माण्डूयक्योपनिषद में आत्मा के द्वितीय पाद "तैजस्" के रूप में प्राप्त होता है।

---

1 जागरितस्थानों बहिष्प्रज्ञ... स्थूलभुक् बैश्वानर·....।" - माण्डूक्योपनिषद्-3.

2 वुद्धिकर्मोन्द्रिय प्राणपञ्चकैर्मनसा धिया
शरीरं सप्तदशाभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ।।..........विद्यारण्यस्वामी प्रणीत पञ्चदशी-1/23

सूक्ष्म शरीर सत्रह (17) अवयवों वाला कहा जाता हैं। इसके अन्तर्गत पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ- (श्रोत, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण) पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, वायु, उपस्थ) पांच वायु- (प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान) बुद्धि और मन आते हैं। ये ज्ञानेन्द्रियाँ आकाशादि सूक्ष्मभूतों में रहने वाले सत्त्व गुण के अंश से अलग-अलग क्रमानुसार उत्पन्न होती हैं। अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति को बुद्धि कहते हैं और अन्तःकरण की संकल्प विकल्पात्मिका वृत्ति को मन कहते हैं। प्रकाशात्मक अर्थात ज्ञानकारक होने से इन ज्ञानेन्द्रियों, मन और वृद्धि को सूक्ष्मभूतों के सात्विक अंश का कार्य कहा जाता हैं।[1]

सूक्ष्मशरीर के अन्तर्गत तीन कोश होते हैं। बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों सहित विज्ञानमयकोष कहलाती हैं।[2] यह विज्ञानमय कोशावच्छिन्न चिदात्मा ही व्यावहारिक जीव कहा जाता है। इसी प्रकार मन ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर मनोमयकोश बनाता हैं। आकाशादि सूक्ष्मभूतों के सम्मिलित रजोगुणांश से प्राणादि पञ्चवायु की उत्पत्ति होती है। ये पञ्चवायु कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर प्राणमय कोश बनाती है। यह प्राणमयकोश क्रियात्मक होने के कारण सूक्ष्मभूतों के रजोगुणांश का कार्य माना जाता है। इन कोशों के मध्य विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से युक्त एवं कर्त्तारूप है। मनोमयकोश इच्छाशक्ति से युक्त और कारणरूप है। प्राणमयकोश क्रिया शक्ति से युक्त

---

1 सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि.......।। श्रीमद् सदानन्दयोगीन्द्र प्रणीत ''वेदान्तसार'' खण्ड-19, ''तत्वपारिजात'' हिन्दी टीका पृष्ठ - 101 से उद्धृत।

2 इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति.....।। श्रीमद् सदानन्द योगीन्द्र प्रणीत वेदान्तसार-खण्ड-20

और कार्य रूप है। उक्त विभाग कोशत्रय के अपनी-अपनी योग्यता के कारण है। ये तीनों कोश मिलकर सूक्ष्मशरीर कहलाते हैं।[1]

समस्त सूक्ष्म शरीर एकत्व ज्ञान के विषय होने से वन या जलाशय के समान समष्टि होते हैं, और अनेकत्व के विषय होने से वृक्ष या जलबिन्दु के समान व्यष्टि भी होते हैं। इन सूक्ष्मशरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य **सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ** और **प्राण** कहा जाता हैं। समस्त प्राणियों के लिङ्गशरीरों में सूत्र के समान अनुस्यूत होने के कारण उसे सूत्रात्मा कहते हैं। ज्ञानशक्तिमान (विज्ञानमयकोश), इच्छा शक्तिमान (मनोमयकोश) और क्रियाशक्तिमान (प्राणमयकोश) से उपहित होने के कारण उसे हिरण्यगर्भ और प्राण कहते हैं। इस सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ की उपाधिभूता लिङ्गंशरीरों की यह समष्टि उत्पन्न होने वाली स्थूलसृष्टि की अपेक्षा सूक्ष्म होने से सूक्ष्मशरीर और विज्ञानमयादिकोशत्रय कहलाती है। जागरण काल की वासनाओं से उत्पन्न परन्तु जागरणकल के विषयों से रहित होने के कारण स्वप्न कही जाती हैं।[2] क्योंकि जागरण काल में विषयों के अनुभव से जो वासनाएँ चित्त में घर कर लेती है वे ही स्वप्न को जन्म देती हैं।

हिरण्यमय (सोने के) अण्डे से ब्रह्मा के उत्पन्न होने की कथा मनुस्मृति में वर्णित हैं।[3] ज्ञानशक्तिमान विज्ञानमयकोश ही हिरण्यमय अण्ड़ा है।

---

1 वही - खण्ड - 21, 23, 24.

2 श्रीमद्सदानन्द योगीन्द्र प्रणीत "वेदान्तसार" खण्ड-25
प्रो0 एस0 एन0 श्रीवास्तव 'तत्वपारिजात' हिन्दी टीका पृष्ठ-110 से उद्धृत ।

3. मनुस्मृति - 1/8-9.

उससे अवच्छिन्न होने के कारण उसके अभिमानी चैतन्य को हिरण्यगर्भ कहते हैं। श्रुतियों में सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ प्राण, क (ब्रह्म) आदि नाम प्रसिद्ध है।[1]

सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि अर्थात् एक सूक्ष्म शरीर से उपहित चैतन्य तेजोमय अन्तःकरण की उपाधि से विशिष्ट होने के कारण तैजस् कहलाता है।[2] इस तैजस् की उपाधिभूता यह व्यष्टि सूक्ष्मशरीर और विज्ञानमयादिकोशत्रय कही जाती हैं। जागरणकाल की वासनाओं से युक्त परन्तु जाग्रदावस्था के विषयों से रहित होने के कारण स्वप्न कही जाती है। और इसी कारण से स्थूलशरीर का लय स्थान भी कही जाती हैं।

आत्मा का द्वितीय पाद-हिरण्यगर्म-तैजस् के भोग, उन दोनों की एकता, तथा उनकी उपाधियों की एकता का निरूपण माण्डूक्योपनिषद् के आगम प्रकरण में मिलता है- ये सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ और तैजस् दोनों स्वप्नावस्था में अन्तःकरण की वृत्तियों के द्वारा सूक्ष्म वासनामय विषयों का अनुभव करते हैं।'' तैजस् सूक्ष्म विषयों का भोग करने वाला है।[3] सूक्ष्मशरीरों की समष्टि और व्यष्टि में तथा उनसे उपहित सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ और तैजस् में उसी प्रकार अभेद है जैसे वन और (वन के) वृक्षों में तथा वनावच्छिन्न आकाश और वृक्षावच्छिन्न आकाश में अभेद होता हैं।

---

1 (क) ''हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'' - ऋक् सहिता - 10-121-1
(ख) ''कतम एको देव इति प्राण इति'' वृहदारण्यकोपनिषद्-3-9-9.
(ग) ''वायुर्वै गौतम तत्सूत्र वायुना वै गौतम सूत्रेण''
बृहदारण्यकोपनिषद् - 3-7-2.

2 एतद् व्यष्ट्युपहित चैतन्यं तैजसों भवति तेजोमयान्तः करणोपहितत्वाद्...........।
श्रीमद्सदानन्दयोगीन्द्र प्रणीत-बेदान्तसार खण्ड-26

3 ''प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयपादः''-माण्डूक्योपनिषद्-4

(ग) प्राज्ञ–ईश्वर

अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् की सृष्टि वास्तविक नहीं हैं जैसे सीपी में भ्रम के कारण चाँदी भासित होने लगती है, अथवा रस्सी में साँप दिखाई पड़ने लगता हैं उसी प्रकार अद्वैत आत्मतत्त्व पर अज्ञान के कारण जगत् की भ्रमात्मक प्रतीति होती है। इसी को **अध्यारोप** या **अध्यास** कहते हैं। इसी अध्यास को अतंस्मिस्तद्बुद्धि कहा है अर्थात् अतद् में तद् का भान, असर्प (रज्जू, दरार, या धारा आदि) में सर्प का भान, तथा अजगत् (ब्रह्म) में जगत् का भान होना।[1]

कभी भी सर्पभाव को प्राप्त न होने वाली रस्सी पर सर्प के आरोप के समान वस्तु (सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्म) पर अवस्तु (समस्त जडपदार्थो का समूह) का आरोप करना ही अध्यारोप है।[2]

इसी अध्यारोप शक्ति के कारण सच्चिदानन्द ब्रह्म ईश्वर और जीव आदि रूपों में अज्ञान की उपाधि से उपहित है। यही अज्ञान समष्टि के अभिप्राय से एक और व्यष्टि के अभिप्राय से अनेक कहा जाता है। जैसे वृक्षों की समष्टि के अभिप्राय से **"यह वन है"** इस प्रकार एकत्व का कथन किया जाता है अथवा जैसे जलविन्दुओं की समष्टि के अभिप्राय से **"यह जलाशय है"** इस प्रकार एकत्व का कथन किया जाता है। उसी

---

1 अतस्मिस्तद्बुद्धिः प्रभवति विभूढस्य तमसा
विवेकाभावाद् वै स्फुरति भुजगे रज्जुधिषण............। विवेकचूडामणि–140

2 असर्पभूताया रज्जौ सर्पारोपवद् वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः।।
–वेदान्तसार–'सदानन्दयोगीन्द्र प्रणीत' खण्ड–11 अध्यारोपलक्षण।

प्रकार अन्तःकरण उपाधि के भेद से अनेक प्रतीत होने वाले जीवगत अज्ञानों को समाष्टि के अभिप्राय से उसके एकत्व का कथन किया जाता है। अज्ञान की यह समष्टि ''नाना'' उत्कृष्ट ''ईश्वर'' की उपाधि होने के कारण सत्वगुण के प्राधान्य से युक्त होती है। इस ईश्वर से उपहित हुआ चैतन्य समस्त अज्ञान राशि का प्रकाशक होने से सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वनियामक आदि गुणों से युक्त अव्यक्त, अन्तर्यामी, जगत् का कारण और **ईश्वर** कहा जाता है।[1]

जिसप्रकार अज्ञान समष्टि के लिए माया उसी प्रकार अज्ञान व्यष्टि के लिए (''यह वृक्ष है'', ''यह जल बिन्दु'', की भांति) अविद्या शब्द का व्यवहार किया जाता है। माया में विशुद्ध सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है और अविद्या में रहने वाला सत्वगुण रजस् तथा तमस् से अभिभूत होकर अविशुद्ध अथवा मलिन हो जाता है।[2]

निकृष्ट ''जीव'' की उपाधि होने के कारण, अज्ञान की इस व्यष्टि (अविद्या) में मलिन सत्वगुण की प्रधानता होती हैं। इस व्यष्टिज्ञान से उपहित चैतन्य केवल एक अज्ञान का प्रकाशक होने से अल्पज्ञता और अनीश्वरता आदि गुणों से युक्त **प्राज्ञ** कहा जाता है। अधिक प्रकाशकारक एवं मलिन सत्वप्रधान होने से इसे **प्राज्ञ** कहते हैं। इस प्राज्ञ की उपाधिभूता यह अज्ञान की व्यष्टि भी अहंकार इत्यादि के कारण होने से कारण शरीर कही जाती है। आनन्द के प्राचुर्य से युक्त होने के कारण और कोश के

---

1 सदानन्दयोगीन्द्र प्रणीत ''वेदान्तसार'' खण्ड-12 'तत्त्वपारिजातटीका'-हिन्दी अनुवाद-प्रो0 सन्तनारायण श्रीवास्तव पृष्ठ सं0 77

2 सत्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।। - पञ्चदशी 1/16

समान चैतन्य का आच्छादक होने के कारण आनन्दमय कोश कहलाती है। सभी जाग्रत और स्वप्न के प्रपञ्च का विलय स्थान होने के कारण सुषुप्ति कही जाती हैं। इसी कारण से स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों की सृष्टि का लय स्थान भी कहलाती है।[1]

आत्मा का तृतीय पाद प्राज्ञ-ईश्वर के भोग उन दोनों की एकता, तथा उनकी उपाधियों की एकता का निरूपण माण्डूक्योपनिषद् में किया गया है। प्रलय और सुषुप्ति अवस्था में ईश्वर और प्राज्ञ चैतन्य से प्रकाशित होने वाले अज्ञान की अत्यन्त सूक्ष्म वृत्तियों के द्वारा स्वरूपभूत आनन्द का अनुभव करते हैं। ''प्राज्ञ आनन्द का भोग करने वाला और चेतोमुख है।[2] मैं सुखपूर्वक सोया, ''कुछ भी खबर नहीं रही'' इस प्रकार सोकर उठे हुए व्यक्ति को स्मरण होने से यह बात प्रमाणित होती हैं। अज्ञान की समष्टि और व्यष्टि में उसी प्रकार अभेद है जिस प्रकार वन और (वन के) वृक्षों में अभेद होता हैं। इन अज्ञान की समष्टि और व्यष्टि से उपहित ईश्वर और प्राज्ञ में उसी प्रकार अभेद हैं जैसे वनावच्छिन्न आकाश और वृक्षावाच्छिन्न आकाश एक ही होता है। ''प्राज्ञ ही सर्वेश्वर है''।[3] इससे ईश्वर और प्राज्ञ की एकता सिद्ध होती है।

---

1. सदानन्दयोगीन्द्र प्रणीत वेदान्तसार - खण्ड-13, तत्त्वपारिजात हिन्दी टीका- प्रो0 सन्त नारायण श्रीवास्तव, पृष्ठ- 81-82.
2 आनन्दभुक् चेतो......मुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।। माण्डूक्योपनिषद्-5 गोविन्दभवन कार्यालय गीताप्रेस, गोरखपुर ।
3 एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञः.........भूतानाम् ।।
माण्डूक्योपनिषद-6. वही

(घ) आत्मा-ब्रह्म

अद्वैत वेदान्त में साधन चतुष्ट्य सम्पन्न अधिकारी ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हेतु ब्रह्मनिष्ठ गुरू के पास पहुंचता हैं तो गुरू अपने शिष्य को अध्यारोप और अपवाद की क्रमिक प्रक्रिया से आत्मा का बोध कराता है।[1]

अध्यारोप, तथा अपवाद अद्वैत वेदान्त की दो शक्तियाँ है- जिससे-"ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:" मूल अद्वैत सिद्वांत की व्याख्या होती है। अध्यारोप के कारण कभी भी सर्पभाव को न प्राप्त होने वाले रस्सी में सर्प के आरोप के समान वस्तु (अद्वितीय ब्रह्म) पर अवस्तु (समस्त जडपदार्थ जगत्) का आरोप भासित होता है। अपवाद इसके विपरीत है।

अपवाद से तो जिस प्रकार दीपक का प्रकाश लाने पर रस्सी में प्रतीत होने वाले सर्प के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है, और केवल अधारभूत रज्जु ही अवशिष्ट रहता है। उसी प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन की दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास करते-करते ज्ञानोदय होने पर समस्त जागतिक सृष्टि के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है और सबका अधिष्ठान-भूत सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। अपवाद विधि से जागतिक सृष्टि के मिथ्यात्व निश्चय हो जाने पर तुरीयावस्था होती हैं जिसमें वन एवं (वन के) वृक्षो की भाँति समष्टि रूप में "ब्रह्म" तथा व्यष्टि रूप

---

1 अध्योरोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चयते
शिष्याणां बोधसिद्ध्यर्थं तत्वज्ञैः कल्पितः क्रमः।।- पञ्चदशी ।

में आत्मा का व्यवहार होता है। अतएव दोनों की एक ही अवस्था तुरीयावस्था एवं दोनों अभेद है, श्रुतियाँ अनेकशः प्रमाणित करती है।[1]

जिसप्रकार वन, वृक्ष और उनसे अवच्छिन्न आकाश का आधारभूत अनुपहित आकाश होता है उसी प्रकार आज्ञान से उपहित चैतन्य-ईश्वर-प्राज्ञ का आधारभूत अनुपहित चैतन्य होता है उसको तुरीय (चतुर्थ) कहा जाता है। उस तुरीयावस्था में विवेकी ज्ञान अनुपहित चैतन्य को शिव, अद्वैत, ब्रह्म मानते है।[2]

यह तुरीय शुद्ध चैतन्य ही अज्ञानादि-प्रपञ्च और उससे उपहित होने वाले चैतन्य से तपाये हुए गोले के समान अलग न प्रतीत होता हुआ 'तत्त्वमासि'-(छान्दोग्योपनिषद् -6.8.7.) इस महावाक्य का वाच्यार्थ कहा जाता है और अलग प्रतीत होता हुआ लक्ष्यार्थ कहा जाता है। अपवाद के द्वारा अज्ञानादि समस्त जड़ जगत् का ब्रह्म मात्र वास्तविकता का अनुभव होता हैं। इसकी प्रक्रिया जगत् की उत्पत्ति के विपरीत क्रम से होती है।[3] अपवाद प्रक्रिया से भोगों के आश्रयभूत चारो प्रकार के समस्त स्थूल शरीर, तत्सम्बन्धित भोग्य अन्नपानादि, इनके आधारभूत भू आदि चौदह भुवन और उनके भी आधारभूत समस्त ब्रह्माण्ड- अपने कारणभूत पञ्चीकृत महाभूतमात्र रह जाते है। अपने शब्दादि विषयों के सहित ये पञ्चीकृतभूत और सूक्ष्मशरीरों का समूह-यें सब अपने कारणभूत अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूतमात्र रह जाते हैं। ये अपञ्चीकृत भूत

---

1. (क) ''अयमात्मा ब्रह्म 'माण्ड्क्योपनिषद-2'
   (ख) तत्त्वभासि श्वेतकेतो ''-----छान्दोग्योपनिषद् 6.8.7.
   (ग) अहं ब्रह्मासि----''-----वृहदारण्यकापानिषद् 1.4.10.
2. शिवमद्वैतं चतुर्थ मन्यते - माण्ड्क्योपनिषद् -7.
3. ''विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च''---- ब्रह्मसुत्र - 2.3.14.

अपने कारणभूत अज्ञानोपहित चैतन्य मात्र रह जाते हैं। अन्त में यह अज्ञान और अज्ञानोपहित ईश्वर-प्राज्ञ, आदि अपने अधिष्ठानभूत अनुपहित चैतन्य स्वरूप तुरीय (ब्रह्ममात्र) के रूप में रह जाते हैं।

अध्यारोप-अपवाद प्रक्रिया द्वारा गुरू अधिकारी शिष्य को आत्मतत्व का उपदेश देता है। इस प्रकार शिष्य ब्रह्म और प्रत्यगात्मा की एकता को समझ लेता है। "तत्त्वमसि आदि महावाक्य में तत् और त्वम् पद के द्वारा आत्मा और ब्रह्म की एकता या अभेद प्रतिपादित होता है-[1] त्वं (आत्मा या उपहित चैतन्य) तत् (वही अर्थात् ब्रह्म) असि (हो)। 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के अनन्तर "अहं ब्रह्मस्मि" (मैं ब्रह्म हूँ) इस प्रकार से ब्रह्म साक्षात्कार का अनुभव कराने वाले महावाक्य के द्वारा आत्मा एवं ब्रह्म की एकता प्रतिपादित होती हैं। जब तक ब्रह्म साक्षात्कार-रूप अनुभव दृढ़ता को न प्राप्त करे तब तक श्रवण, मनन निदिध्यासन, और समाधि का अनुष्ठान (अभ्यास) अपेक्षित है।

"ॐ" यह अक्षर ही सब कुछ है। वह ओंकार आत्मा का प्रतिपादन करने वाला होने से उसका स्वरूप है। यह जो कुछ भूत, भविष्यत, और वर्तमान है उसी की व्याख्या है, इसलिए यह सब ओंकार ही है। इसके अतिरिक्त जो अन्य त्रिकालातीत वस्तु है वह भी ओंकार ही है।[2] यह सर्व ब्रह्म ही हैं। यह आत्मा भी ब्रह्म ही हैं। वह यह आत्मा चार

---

1 श्रीमद्सदानन्दयोगीन्द्र प्रणीत- "वेदान्तसार"-खण्ड- 50, 51

2 ओमित्येतदक्षरमिद सर्वं तस्योपव्याख्यान
भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कांर एव ।
यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ।।- माण्डूक्योपनिषद्-1

पादों वाला है।[1] इसका प्रथम पाद–वैश्वानर, द्वितीय तैजस्, तृतीय–प्राज्ञ तथा चतुर्थ पाद तुरीय (ब्रह्म) है। इस आत्मा का चतुर्थ पाद तुरीय का स्वरूप न तो अन्तःप्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ है, न अन्तर्वहिष्प्रज्ञ है, न प्रज्ञान घन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है बल्कि अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्च का उपशम, शान्त, शिव और अद्वैत रूप है। वही आत्मा है और वही साक्षात् जानने योग्य है।[2]

तुरीय आत्मा सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति में ईशान–प्रभु (समर्थ) है। वह अविकारी, सब पदार्थो का अद्वैतरूप देव, तुरीय और व्यापक माना गया है।[3] आत्मा के दोनों पाद विश्व और तैजस् कार्य और कारण से बँधे हुए माने जाते है किन्तु प्राज्ञ केवल कारणावस्था (बीजावस्था) से ही बद्ध है। किन्तु तुरीय में तो यह दोनों ही अवस्थाएं नही है।[4] प्राज्ञ न अपने को, न पराये को और न सत्य को जानता है किन्तु वह तुरीय सर्वदा सर्वदृक् है।[5] इस प्रकार तुरीय वस्था में न निद्रा है, न स्वप्न ।

मात्रारहित आकार तुरीय आत्मा ही है। यह ओंकार आत्मा ही है। इस प्रकार जो उसे जानता है वह स्वतः अपने आत्मा में ही प्रवेश कर जाता है। जिसने मात्राहीन, अनन्त मात्रा वाले, द्वैत के उपशमस्थान और मङ्गलमय ओंकार को जाना है वही मुनि है अर्थात् ब्रह्म है। और कोई शास्त्रज्ञ पुरूष नही है।[6]

---

1 "अयमात्मा ब्रह्म ।" माण्डूक्योपनिषद्–2

2. "नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं...स आत्मा स विज्ञेयः ।।" माण्डूक्योपनिषद्–7

3 निवृत्ते सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरण्यय..........." । माण्डूक्योपनिषद्– गौड़पादकारिका–10

4 वही – 11

5 वही – 12

6 वही – 29

अध्याय-5

साक्षी (चैतन्य)

(1) साक्षी को स्वीकार करने के तर्क (प्रमाण)

(क) सुषुप्तावस्था से प्राप्त तर्क

(ख) स्वप्नावस्था से प्राप्त तर्क

(ग) भ्रम की अवस्था से प्राप्त तर्क

(घ) चेतना की आन्तरिक अवस्था से प्राप्त तर्क

(ङ) चेतना की जाग्रतावस्था से प्राप्त तर्क

(2) साक्षी एवं ब्रह्म का सम्बन्ध

(3) जीव एवं ईश्वर से साक्षी का सम्बन्ध

(क) जीव साक्षी

(ख) ईश्वर साक्षी

साक्षी (चैतन्य)

साक्षी शब्द का अर्थ है कि **"चेता केवलः"** अर्थात् जो जाने वाला होकर भी अकर्ता हो साक्षी है। दूसरे शब्दों में इसे निरपेक्ष द्रष्टा[1] की संज्ञा से भी अभिहित किया गया है। पाणिनि सूत्र के अनुसार भी साक्षी शब्द की व्युत्पत्ति साक्षात् देखने वाले के अर्थ में की गई है।[2] **"साक्षात् द्रष्टारि संज्ञायाम्"** इस सूत्र से द्रष्टा अर्थ में साक्षात् शब्द से इति प्रत्यय करके साक्षी शब्द बना है। साक्षी का लक्षण है जो बोद्धा होकर भी उदासीन हो अर्थात् **"द्रष्टत्वे सति उदासीनत्वं साक्षित्वम्"** यही होता है। संसार में उदासीनता का बोधक होने से ही इसका साक्षित्व सिद्ध होता है। इस प्रकार निरपेक्ष द्रष्टा से तात्पर्य उस सत्ता से है जो जीवात्मा के समस्त प्रपंचात्मक व्यवहार एवं उसकी अभिगम्यता को अनासक्त भाव से सतत् देखता है। साक्षी सभी अनुभवों का द्रष्टा तो है किन्तु इसे देखने वाला कोई नहीं है। एम0 हिरियन्ना के शब्दों में जीव तो आत्मचेतना का विषय बन जाता है किन्तु साक्षी को श्रेय मानना त्रुटिपूर्ण होगा क्योंकि ऐसा मानने पर एक और ज्ञाता मानना पड़ेगा जिससे अनवस्था दोष उपस्थित होगा।[3]

---

1 ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य-1.4.7.

2 अद्वितीयो देवो द्योतनस्वभाव सर्वप्राणिषु सतुतः। कर्माध्यक्षः सर्वप्राणिकृत विचित्र कर्माधिष्ठाता। सर्वप्राणिषु वसति। सर्वेषांभूतानां साक्षी सर्वद्रष्टा। साक्षात् द्रष्टारि संज्ञायाम् इति स्मरणात्-पाणिनिसूत्र 5/2.91
संपादक ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर-1995

3 "भारतीय दर्शन की रूपरेखा"-एम0 हिरियन्ना पृष्ठ 342 छठा संस्करण 1987

उपनिषदों में साक्षी पद यौगिक पदों में प्रयुक्त हुआ है। साक्षी की अवधारणा बाद में विकसित हुई फिर भी बहुत से शब्द एवं अवधारणायें उपनिषदों में यत्र-तत्र पायी जाती है जो इसकी पूर्वगामिनी मानी जाती है। वृहदारण्यक उपनिषद का **"यत् साक्षात् अपरोक्षाद् ब्रह्म"**[1] ही साक्षी की अवधारणा का मुख्य सूत्र है। यहां यह पद साक्षी को स्पष्टतः संकेतित ही नहीं करता वरन् एक ऐसे पद को व्यक्त करता है जिसका प्रयोग साक्षी एवं ब्रह्म दोनों के लिए किया जा सकता है। अन्य पद भी उपनिषदों में पाये जाते हैं जिसका स्पष्ट अर्थ साक्षी पद से है- प्रज्ञा[2], विज्ञाता[3], अन्तर्यामी[4], ईश्वर[5], आत्मज्योति[6] एवं स्वयंज्योति[7]।

श्वेताश्वर उपनिषद् में सर्वप्रथम साक्षी का स्वरूप वर्णित है। तदनुसार सभी प्राणियों में छिपा हुआ एक प्रकाशस्वरूप, सर्वव्यापी, सभी जीवों का अन्तरात्मा, समस्त प्राणियों द्वारा किये जाने वाले विभिन्न कर्मो का अध्यक्ष, अधिष्ठाता (कोई कार्य होते समय उसमें व्याबृत्त हुए बिना) पृथक् रहकर ही उसे देखने वाला, सभी भूतों में या उनके समानाधिकरण होकर रहने वाला आत्मस्वरूप साक्षी है।[8] आचार्य गौड़पाद ने भी ईश्वर के स्वरूप

---

1 वृहदारण्यक उपनिषद् 3.4.1
2 माण्डूक्य कारिका 1/3.5
3 ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 1.4.7.
4 वही, 3.7.1.
5 वही, 3.7.23.
6 वही, 4.3.6.
7 वही, 4.3.9.
8 एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निगुश्च ।
श्वेताश्वेतरोपनिषद 6.11

के रूप में साक्षी का वर्णन किया है किन्तु साक्षी नाम से नहीं।[1] शंकराचार्य ने सर्वप्रथम शारीरिक भाष्य में प्रत्यगात्मा को अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों का साक्षी तथा सर्वसाक्षी कहकर विशेषित किया है।[2] साक्षी पद को आगे और स्पष्ट करते है- "सर्वेषां भूतानां साक्षी सर्वद्रष्टा"[3] अर्थात् समस्त भूतों का साक्षी यानी सर्वद्रष्टा। साक्षी के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य ने बताया कि श्रुति के अनुकूल युक्तियों से पांच कोषों का निषेध कर देने पर उनके निषेध की अवधि रूप बोध स्वरूप साक्षी बना रहता है।[4]

इस परिभाषा से इतना स्पष्ट है कि साक्षी उपाधियों की निषेधावधि है। शंकर यह भी कहते हैं कि "ये सब (अहंकार आदि) जिसके द्वारा अनुभव किये जाते हैं और जो स्वयं अनुभव नहीं किया जा सकता, अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा उस सबके साक्षी को ही अपनी आत्मा जानना चाहिए, जिस-जिस के द्वारा जो-जो अनुभव किया जाता है वह सब उसी के साक्षित्व में कहा जाता है बिना अनुभव किये पदार्थो में किसी का भी साक्षी होना नही माना जा सकता अपना तो यह आत्मा स्वयं ही साक्षी

---

1 माण्डूक्यकारिका: 2.12

2 अहं प्रत्यायनमशेषस्व प्रचार साक्षिणी प्रत्यागात्मनि अध्यस्य तं च प्रतयगात्मानं सर्वसाक्षिणं तत् विपर्ययेणान्त करणादित्व ध्यस्यति ।

ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य (सत्यानन्दी दीपिका पृष्ठ-17-18)
गोविन्द मठ वाराणसी संवत 2040 ।

3 वही शांकरभाष्य 6.11 पृष्ठ 243

4 पंचानामपि कोशानां निषेधे युक्तिः श्रुतेः
तन्निनिषेधावधिः साक्षीा वोधरूपोऽवशिष्यते ।
विवेक चूडामणि-212

है इससे परे कोई अपना अन्तरात्मा नहीं है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि साक्षी समस्त वृत्तियों का प्रकाशक एवं तटस्थ द्रष्टा तथा स्वयं प्रकाश है। वह बोद्धा होकर भी उदासीन है। **"द्रष्टत्वे सति उदासीनत्वं साक्षित्वम्"** संसार में उदासीनता का बोधक होने के कारण ही इसका साक्षित्व सिद्ध होता है। क्योंकि लोक में भी जब दो व्यक्तियों में झगड़ा होता है, वहां साक्षी वही बन सकता है **जो उनके विवाद का द्रष्टा हो, ज्ञाता हो एवं स्वयं उदासीन हो।** ये तीनों बातें आवश्यक है। केवल उदासीनत्व भी साक्षी का लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि समीपवर्ती स्तम्भ आदि भी तो उदासीन है किन्तु उन्हें साक्षी नहीं माना जा सकता क्योंकि उसमें शेष दोनों लक्षण नही होते। इसी प्रकार यदि केवल द्रष्टत्व को ही साक्षी का लक्षण माना जाय तो झगड़ा करने वाला स्वयं साक्षी हो जायेगा लेकिन यह उचित नही है इस लिए उपर्युक्त लक्षण ही उपयुक्त माना जा सकता है।[2]

कूटस्थ दीप प्रकरण में साक्षी के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों का अधिष्ठान भूत कूटस्थ चैतन्य ही स्वयं साक्षी है।[3]

किन्तु यहां एक शंका स्वाभाविक रूप से होती है कि देहद्वय का अवभास तो प्रकाशरूप अन्त:करण की वृत्तियों से भी हो सकता है तो

---

1 वही, 216, 217, 218

2 सिद्वान्त लेशसग्रह-श्रीमद्अप्पयदीक्षित-पृष्ठ-180
अच्युतग्रंथमाला कार्यालय वाराणसी सवत् 2011

3 क: साक्षी.............प्रतिपादित. ।
सिद्वान्त लेशसंग्रह पृष्ठ-92, 179

इसके लिए साक्षी की क्या आवश्यकता है? इसके स्पष्टीकरण में कहा जा सकता है कि जीव शब्द का अर्थ अन्तःकरण है। इस परसिद्धान्तत्वसंग्रह में कहा गया है कि साक्षी के बिना स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का अवभास नहीं होगा क्योंकि दीप आदि के समान वृत्तियों के प्रकाशात्मक होने पर भी वे स्वतः जड़ है अतः वे देहद्वय को प्रकाशित करने में असमर्थ है। इस लिए साक्षी चैतन्य को मानना पड़ता है। दूसरी बात यह है कि वृत्तियों के मध्यकाल में शरीरक्षय का स्पष्ट भान होता है और वृत्ति के अनन्तर "मैं स्थल हूँ" और मैं कर्त्ता हूँ" इत्यादि का स्पष्ट भान होता है। इसलिए अस्पष्ट भान की उपपत्ति के लिए वृत्तिज्ञान से अतिरिक्त साक्षी अवश्य मानना चाहिए । यदि साक्षी न माना जाय तो वृत्ति की उत्पत्ति एवं वृत्ति का विनाश जो स्पष्ट भासते हैं उनका भान नहीं होगा, क्योंकि अपने से अपना विनाश और उत्पत्ति नहीं देखी जा सकती।[1]

ब्रह्मसूत्र के अध्यासभाष्य में शंकराचार्य एक स्थल पर "सत्यान्ततेमिधुनीकृत्य"[2] दूसरे स्थान पर "प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यास"[3] और तीसरे स्थान पर "अहंप्रत्ययिनम् अशेषस्वप्रचार साक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य"[4] शब्दों का प्रयोग कर अध्यास के दोनों पक्षों का निरूपण करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जो "सत्य" है "प्रत्यागात्मा" है वही साक्षी है जो

---

1 यद्यपि जीवस्यवृत्तय: सन्ति देहद्वय भासिका..........वृत्ति ज्ञानेभास्यते ।
वही, पृष्ठ- 180, 181

2 ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य अध्यास पृष्ठ-3

3 वही, पृष्ठ-12

4 वही, पृष्ठ-17

''अनृत'' है ''अनात्मा'' है वही अहं प्रत्यय वाला अन्तःकरण है। यद्यपि सरल शब्दों में यह कह सकते है कि परमसत् का अन्तःकरण के साथ अध्यास होता है किन्तु परमसत् आत्मा से पृथक कोई भिन्न वस्तु नहीं है। यह संकेत करने के लिए शंकराचार्य इसे ''प्रत्यगात्मा'' भी कहते हैं। सामान्य जनों में प्रत्यगात्मा भी अज्ञात वस्तु मानी जाती है और उस मान्यता का निवारण करने के लिए ही उसे साक्षी नाम देते हैं। इस प्रकार साक्षी वह चेतन सत्ता है जो अन्तःकरण की वृत्तियों की द्रष्टा है और वही हम स्वयं है-

> अहं प्रत्यय विषय कर्तृ व्यतिरेकेण तत्साक्षी
> सर्वभूतस्थः सम एकः कूटस्थ नित्यः पुस्षः।[1]

अर्थात् में प्रत्यय विषय के कर्त्ता से भिन्न उसका साक्षी सब भूतों में स्थित सम एक कूटस्थ नित्य सबका आत्मा पुरुष है।

किन्तु सुरेश्वराचार्य इस मत का समर्थन करते है कि साक्षी जीव से भिन्न है क्योंकि जीव जड़-मिश्र चैतन्य हैं। इसी से वह ज्ञाता कर्त्ता भोक्ता आदि है कर्त्ता होना शिकार युक्त होना है साक्षी तटस्थ ही हो सकता है। वह स्वतः सिद्व है उसमें व्यभिचार नही होता।[2] साक्षी में

---

1 ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य 1.14

2 कर्त्रादिकारकाण्यस्मिन्नसाधारणरूपतः।
अतदर्मक, अभान्ति ह्यागमापायसाक्षि ।।
साक्ष्रिरूपं स्वतसिर्द्ध तेनेस्वाव्यभिचारतः।
कर्त्रादि तृ तमांऽन्तस्य रूपे धर्माद्यपेक्षया ।।
सुरेश्वरकृतवृहदारण्यक भाष्यवार्तिक 1.4.668-669

अवस्था परिवर्तन नही होता जबकि जीव जाग्रत, स्वप्न और सुसुप्ति अवस्थाओं में व्यभिचारित होता है। साक्षी स्वयं कर्त्ता नहीं किन्तु कर्मो को देखता है। जीव कर्म करता है अपने कर्मो के फल का भोक्ता जीव है साक्षी नहीं। जीव अनेक है किन्तु साक्षी एक है।

इसका तात्पर्य यह नही है कि साक्षी ही परमात्मा है सुरेश्वर का तर्क है कि कूटस्थ परब्रह्म में साक्षित्व असंगत है क्योंकि इसे (साक्षी को) द्वितीय संगीति की नियत अपेक्षा है **''कूटस्थस्य न साक्षित्वं द्वितीयासंगतेर्भवंत''**।[1] यदि न जीव न ब्रह्म ही साक्षी है तो क्या वह तीसरी सत्ता है? इसके उत्तर में सुरेश्वराचार्य का कथन है कि केवल अज्ञान से उपहित कूटस्थ आत्मा साक्षी है। उपहित से तात्पर्य यह कि साक्षी में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद अज्ञान का सूचक है किन्तु साक्षी चिन्मात्र स्वरूप ही है।[2]

शंकराचार्य ''साक्षी'' शब्द का प्रयोग करते हुए उसमें द्वैतबोध का लक्ष्य नहीं करते हैं। उनकी दृष्टि साक्षी के कूटस्थ रूप पर ही रहती है उसमें जो साक्षित्व की उपाधि है उसके लिए जीव के विकार ही उत्तरदायी है वह स्वयं नहीं। क्योंकि साक्षी को कूटस्थ कहने से तात्पर्य उसके अपरिणामी होने से है **''कूटेकपटे साक्षित्वे यस्तिष्ठति सः कूटस्थः''**[3]

---

1 वही, पृष्ठ-1.4.374

2 अज्ञानमात्रोपाधित्वादविद्यामुषितात्मभिः
कोटस्थ्यार्त्रिद्वयोऽप्यात्मा साक्षीत्यध्यस्यते जड़े· ।
वही

3. न्याय रत्नावली पृष्ठ-144

कूटस्थ को साक्षी इसी लिए कहा गया है क्योंकि वह प्रमाता की तरह सुखादि रूप स्वसमसत्तात्मक परिणाम को प्राप्त नहीं करता, अतएव सदा एकरस बने रहने के कारण सर्वदृश्य भासक है।

सर्वज्ञात्ममुनि ने साक्षी के सम्बन्ध में जो कुछ कहा उससे साक्षी के विषय में यह ज्ञात होता है कि वह देखता कैसे है-

तमसा विनिर्मितमिदं सकलं

चतुरः न पश्यति परः पुरुषः।

अविकारि बोधवपुरद्वयकः।

कारणैर्विना सकल साक्षितया।।[1]

अर्थात अज्ञान विनिर्मित इस समस्त प्रपंच को कूटस्थ अद्वितीय चेतनस्वरूप अविकारी दृश्य से भिन्न परमपुरुष इन्द्रियादि कारणों के विना ही सबका साक्षी होकर ही देखता है।

इससे स्पष्ट है कि साक्षी की उपाधि इतनी ही है कि वह अज्ञान विनिर्मित प्रपंच का द्रष्टा है इसके ऊपर अज्ञान का प्रभाव नहीं है वह स्वयं अविकारी एवं अद्वितीय है क्योंकि अज्ञान रचित प्रपंच उसका कोई विरोध स्वतन्त्र तत्व नहीं है। उसका देखना भी इन्द्रियों और बुद्धि से देखना, जानना जैसा नहीं है वह सूर्य की भांति सबका अन्तर्वाह्य प्रकाशक है।

---

1 संक्षेप शारीरक 2.29

भामतीकार वाचस्पतिमिश्र साक्षी में विद्यमान उदासीनता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए कहते है "अन्तःकरणप्रचारसाक्षिणि चैतन्योदासीनताभ्यां"[1] अर्थात् अन्तःकरण की वृत्तियों का साक्षी चैतन्य ही है और वही उदासीन होने के कारण साक्षी कहलाता है।

चित्सुखाचार्य जीवन को प्रमातृ मानते है क्योंकि वह इन्द्रियों के द्वारा विषयों को जाने वाला है किन्तु साक्षी ऐसा द्रष्टा है जो इन्द्रियों एवं अन्तःकरण का प्रयोग नहीं करता है वरन् उसकी बदलती हुई दशाओं को उनसे पृथक रहकर देखता है सुसुप्ति अवस्था में बुद्धि आदि के लय हो जाने पर भी वह विद्यमान रहता है और अज्ञान को प्रकाशित करता है।[2]

अप्पय दीक्षित ने ईश्वर के दो रूप माने हैं एक साक्षी और दूसरा जगत् कारण साक्षी ईश्वर का उदासीन रूप है और जीव के अधिक अन्तरंग है। इसका विस्तार से वर्णन आगे करूंगा। यहां इसके अधिक विस्तार में न पड़कर स्वामी विद्यारण्य के मत का उल्लेख आवश्यक है। इनके साक्षी के विस्तृत विवेचन में उपर्युक्त लगभग सभी आचार्यो के मतों का समन्वय हो गया है। पंचदशी का नाटक दीप प्रकरण साक्षी विषयक ही है। उसमें साक्षी की परिभाषा इस प्रकार दी गई है---

कर्त्तारं च क्रिया तद्वद् व्यावृत्तविषयानपि ।
स्फोरयेदकयत्नेन यो सौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः ।।[3]

---

1 भामती पृष्ठ-45

2 तत्वप्रदीपिका, चित्सुखाचार्य पृष्ठ-381-382
षड्दर्शन प्रकाशन, वाराणसी 1974

3 पचदशी विद्यारण्यस्वामी 10.9 पृष्ठ 450
तुद्विसेवाश्रम विजनौर सवत् 2011

अर्थात् जो एक ही यत्न से कर्त्ता क्रिया और विभन्न विषयों को प्रकाशित करता है उस चैतन्य रूप सत्ता को साक्षी कहते हैं। वह **"भासयते सर्वनृत्यशालास्थदीपवत"** नृत्यशाला में रखे हुए दीप की भांति सबको प्रकाशित करता है। जिस प्रकार दीपक स्वयं को, दर्शक को नृत्य कराने वाले (नृत्याभिमानी) को बिना किसी विकार के प्रकाशित करता है। वह प्रभु के प्रकाशन में बड़ा रूप, दर्शकों के प्रकाशन में मध्यम तथा नर्तकी के प्रकाशन में लघु रूप नहीं ग्रहण करता है तथा इन सबके अभाव में स्वयं अपने आप को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार साक्षी अहंकार बुद्रि, विषय आदि सबको प्रकाशित करता है वह सुसुप्तादि अवस्थाओं में उनके लय हो जाने पर उनके अभाव को प्रकाशित करता है। उसका प्रकाशित होना या द्रष्टा होना "ज्ञाप्तिरूप" है[1] वह स्थिर और स्थायी है तथा भीतर बाहर सबका प्रकाशक है।[2] देश की अपेक्षा से वह सर्वगत है और साक्ष्य की अपेक्षा से साक्षी किन्तु वह स्वयं "वाग्वुद्वयगोचर" (वाणी और बुद्धि का अविषय) है।[3] उसके ज्ञान के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है।[4]

इस प्रकार स्पष्ट है कि साक्षी की अवधारणा अद्वैत वेदान्त की महत्वपूर्ण खोज है श्रुतियाँ साक्षी को केवल निर्गुण एवं चैतन्य के रूप में व्याख्यायित करती है।[5] इसके द्वारा ज्ञात अज्ञात यथार्थ मिथ्या सभी वस्तुएं

---

1 वही, 10.13
2 वही, 10.15
3 वही, 10.23
4 वही, 10.25
5 साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।
श्वेताश्वेतरोपनिषद 6.11

प्रकाशित होती है वह सर्वज्ञ तथा सब कुछ को प्रकाशित करने वाला है किन्तु सर्वज्ञ होते हुए भी साक्षी सब कुछ का प्रमाता नहीं होता बल्कि निष्पक्ष होता है अपने निष्पक्षत्व के कारण ही साक्षी को सत् एवं मिथ्या ज्ञात एवं अज्ञात सब कुछ भाषित होता है साक्षी जैसे रज्जु को देखता है वैसे सर्प को भी देखता है लेकिन प्रमाता की एक विशेष दृष्टि होती है वह रस्सी एवं सर्प में भेद देखता है जबकि साक्षी का कार्य केवल देखना एवं जानना है वह चैतन्य स्वरूप तथा स्वप्रकाश है।[1]

वाचस्पति मिश्र ने भामती में **अहं प्रत्यय** के विषय के अतिरिक्त सभी भूतों में एक कूटस्थ आत्मा या साक्षी माना है।[2] विवरण ग्रंथ में प्रकाशात्मा ने सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर के अधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्य को साक्षी स्वीकार किया है।[3] यह साक्षी सदा अनावृत्त रहता है इसलिए अपने स्वरूप के विषय में उसे अज्ञान नहीं रहता है। इसका ज्ञान वृत्तियों के प्रकाश पर निर्भर नहीं होता यह अहंकारादि को सीधे प्रकाशित करता है। साक्षी को अद्वैत वेदान्त का एक विशिष्ट तत्व माना जा सकता है जो व्यवहारिक दृष्टि से आत्मा ब्रह्म एवं जीव इन तीनों से भिन्न है किन्तु परमार्थिक दृष्टि से साक्षी परब्रह्म के समान निर्गुण निर्विशेष और नित्य चैतन्य है जो स्वतः सिद्ध एवं स्वयं प्रकाश है। विशुद्ध आत्मतत्व के समान यह

---

1 संक्षेप शारीरक 2.29

2 अहं प्रत्यय विषयों यः कर्त्ता कार्य कारणं ।
संघातोपहितो जीवात्मा तत्साक्षित्वेन परमात्मा ।।
भामी- 1.1.4.

3 तस्योपहित रूप जीपं शुद्धं तु रूपं तस्य साक्षी तच्चमानान्तरातधिगतमुपनिषदगोचरः ।
वही 1.1.1.

साक्षी समस्त ज्ञान एवं अनुभव का अधिष्ठान है किन्तु आत्मतत्व निरुपाधिक है और साक्षी सोपाधिक है यद्यपि यह उपाधि में किसी प्रकार लिप्त नहीं होता है। साक्षी जीव एवं ईश्वर में अभिव्यक्त होता है। प्रत्येक जीव में उसका साक्षी विद्यमान होता है। अन्तःकरण की उपाधि ही निर्विशेष ब्रह्म साक्षि चैतन्य बना देती है।[1]

प्रो0 एम हिरियन्ना ने भी स्वीकार किया है अद्वैत वेदान्त में चेतनतत्व को निष्क्रिय माना गया है इसमें जो सक्रियता दिखाई देती है वह आभासी है वस्तुतः इसके सहचर अन्तःकरण का धर्म है। चेतन तत्व को साक्षी कहा गया है और यह सांख्य योग के पुरूष के समक्ष है यह अन्तःकरण की वृत्तियों का तटस्थ द्रष्टा हैं यही साक्षी कर्त्ता भोक्ता, ज्ञाता के संग्रथित रूप में जीव कहलाता इसकी यह संग्रन्थित सत्ता मोक्ष पर्यन्त बनी रहती है जब अन्त में यह भंग होती है तब अन्तःकरण अपने मूलकारण में लीन हो जाता है और साक्षी अपनी साक्षित्व से हीन होकर ब्रह्म ही बन जाता है।[2]

इस प्रकार साक्षी एवं जीव एक नहीं है यद्यपि विल्कुल भिन्न भी नही है दूसरे शब्दों में जीव अन्तःकरण में व्याप्त चैतन्य है और साक्षी केवल चैतन्य है।

---

1. "भारतीय दर्शन"- सी0 डी0 शर्मा पृष्ठ 252 (प्रथम संस्करण)
2. "भारतीय दर्शन" की रूप रेखा- "एम0 हिरियन्ना" - पृष्ठ 343 (छठासंस्करण) ।

साक्षी को स्वीकार करने के कारणः

अद्वैतवादी दार्शनिकों ने एकमात्र परमसत् निर्गुण ब्रह्म की सत्ता स्वीकार किया है। चैतन्य की विविध प्रतीतियाँ माया, अविद्या या अज्ञान के कारण है। साक्षी की भी सत्ता व्यवहारिक दृष्टि से है और तभी तक है जबतक जीव जगत् एवं ईश्वर की सत्ता है। परमार्थतः तो इन प्रतीतियों का भी समाहार उसी निरपेक्ष चैतन्य में हो जाता है। इसलिए यह प्रश्न स्वाभाविक है कि अद्वैत वेदान्त में चैतन्य को स्वीकार करने का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित ढंग से दिया जा सकता-

1. *स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर के प्रकाशक के रूप में-*

आचार्य शंकर के अनुसार मुख्य रूप से दोनों शरीरों को प्रकाशित करने के लिए साक्षी की आवश्यकता पड़ती है।[1] स्थूल एवं सूक्ष्म जीव एवं शरीर दोनों अज्ञानजन्य होने के कारण अप्रकाशरूप है। उनका स्वाभाविक स्वरूप बादलों की ओट में छिपे सूरज की तरह अस्तित्व विहीन सा लगने लगता है। इस प्रकार वह जीव अज्ञान के कारण ममत्व एवं अहंकारादि के वशीभूत हो संसारी बन जाता है इस प्रकार अप्रकाशस्वरूप जीव एवं शरीर को प्रकाशित करने के लिए साक्षी की आवश्यकता पड़ती है।

---

1. सिद्धान्तलेशसंग्रह - प्रथम परिच्छेद पृष्ठ 180
अच्युतग्रंथमाला काशी संवत् 2011

किन्तु स्वाभाविक प्रश्न है कि अन्तःकरण ही वृत्तियाँ खुद प्रकाश स्वरूप होने के कारण इसे प्रकाशित कर सकती तो साक्षी की क्या आवश्यकता है? यहां यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि अन्तःकरण के जड़ होने के कारण उसकी वृत्तियाँ एवं परिणाम भी जड़ होंगे और उन्हें भी अपने प्रकाशन के लिए साक्षी की आवश्यकता पड़ती है।[1]

2. ***ईश्वर द्वारा जीवों के कर्मों का साक्षी बनकर कर्मफल प्रदान करने के लिए-***

जीव अविद्यावशात् अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है और शरीर मन इन्द्रिय देहादि से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है इस प्रकार कर्मो के फलों का भोग उसकी नियति वन जाती है कर्म स्वयं जड़ होने के कारण अपना फल खुद प्रदान नहीं कर सकते हैं। अतः कर्मफल प्रदाता के रूप में एक सत्ता की आवश्यकता पड़ती है जिसे अद्वैत वेदान्त में ईश्वर माना गया है।

किन्तु प्रश्न है कि ईश्वर किस रूप में जीवों के कर्मो का साक्षी बनता है स्यात् इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए साक्षी की अवधारणा प्रस्तुत की गई है जो ईश्वर का ही एक रूप है जो अन्तःकरण की उपाधि से युक्त तो है किन्तु अन्तःकरण से उसका सम्बन्ध वैसे ही है जैसे घटाकाश से घर की दीवारों का। यह अन्तःकरण के मालिन्य से बिल्कुल अप्रभावित रहता है एवं

---

1 ''भारतीय दर्शन''- डा0 नन्द किशोर देवराज पृष्ठ 531 (चतुर्थ सस्करण 1992)

जीवों के समस्त कर्मो को निरपेक्ष भाव से देखता रहता है और इसी के साक्षित्व को प्रमाण मानकर ईश्वर कर्मफल का विधान करता है।

3. *विविध अनुभवों में एकता एवं सामंजस्य के लिए-*

हमारा ज्ञान विश्रृंखल अनुभवों का संग्रह मात्र नहीं है उसमें एक विशिष्ट प्रकार के क्रम, सांमजस्य एवं एकता की आवश्यकता पड़ती है इस लिए एक ऐसे तत्व को मानना पड़ता है जिससे जीव के विविध अनुभवों में एकता बनी रहे। वह तत्व साक्षी ही है। सुसुप्ति में भी जब कोई विषय नहीं रहता साक्षी स्वयं प्रकाशित रहता है और इसी से सुसुप्ति के पूर्व एवं पश्चात् के अनुभवों में एकता बनी रहती है।[1]

4. *जीवों के अहंत्वाभिमान के नित्य प्रकाशक के रूप में-*

साक्षी को स्वीकार करके ही जीवों के अहंत्वाभिमान का नित्य प्रकाश भी उत्पन्न होता है जैसे **''मैं हूँ अथवा नहीं हूँ'' ''मैं प्राणवान हूँ या नहीं हूँ''** ऐसा संशय किसी को नहीं उत्पन्न होता क्योंकि ''य एव ही निराकर्त्ता तदैव तस्य स्वरूपम्'' इसी प्रकार अहन्ता का नित्य बोध सिद्ध है। इस अहंप्रत्यय का आधार कोई स्वयं प्रकाश सत्ता है जो जाग्रत, स्वप्न, सुसुप्ति तीनों अवस्थाओं का साक्षी होकर भी पंचकोशातीत है।[2] इससे साक्षी की सिद्धि होती है।

---

1 ''भारतीय दर्शन''- **सी0 डी0 शर्मा** पृष्ठ 252 (प्रथम संस्करण) ।

2 अस्ति कश्चित् स्वयं नित्यमहं प्रत्ययलम्बन.।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्पचकोशविलक्षण:।।
विवेक चूड़ामणि-127

5. *मन या अन्तः करण द्वारा वाह्य विषयों के प्रकाशन के लिए-*

यदि साक्षी न माना जाय तो मन या अनत:करण वाह्य विषयों का प्रकाशक नहीं हो सकता है। जिस जिसके द्वारा जो कुछ भी अनुभव किया जाता है वह सब उसी के साक्षित्व में होता है। बिना अनुभव किये हुए पदार्थ का कोई साक्षी भी नहीं कहा जा सकता।[1] यह साक्षी मन और अहंकार रूप विकारों तथा देह तथा इन्द्रियों और प्राणों की क्रियाओं का ज्ञाता है तथा तपाये हुए लौह पिण्ड के समान उनका अनुवर्तन करता हुआ भी न कुछ चेष्टा करता है न विकार को ही प्राप्त होता है।[2]

आचार्य शंकर कहते हैं कि प्रकृति एवं उसके विकारों से भिन्न शुद्ध ज्ञान स्वरूप, वह निर्विशेष परमात्मा सत्असत् सबको प्रकाशित करता हुआ जाग्रतादि अवस्थाओं में अहंभाव से स्फुरित होता हुआ बुद्धि के साक्षी रूप से सदा विद्यमान है।[3] इस प्रकार श्रुति के अनुकूल युक्तियों से पांचों कोशों का निषेध कर देने पर उनके निषेध की अवधि रूप बोध स्वरूप साक्षी (आत्मा) की ही सत्ता शेष रहती है।[4] तत्व शुद्धि में भी कहा गया है कि इस साक्षी को माने बिना व्यवहार नही संभव है।

---

1 तत्साक्षिकं भवेन्तन्तद्यद्येनानु भूयते
कस्याप्यननु भूतार्थे साक्षित्वं नोपयुज्यते।
वही-217

2 वही-135

3 वही-137

4 पंचानामपि कोशानां निषेधे युक्तितः श्रुतेः।
विवेक चूड़ामणि-212

इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मानवीय व्यक्तित्व के विश्लेषण के फलस्वरूप उसके अनुभवों को देखते हुए हमें पता लगता है कि वाल्यावस्था से बृद्वावस्था पर्यन्त ''मैं'' की सर्वदा अनुभूति विद्यमान रहती है इस अनुभूति का भी अनुभवी एक विशुद्व चैतन्य है वही साक्षी है वह निर्विशेष बोध एवं निर्विकार द्रष्टा है। जिसे स्वीकार करना आवश्यक है।

साक्षी की सिद्धि हेतु पाँच प्रमाण या तर्क

ज्ञान हमारी संवेदनाओं का अन्धाधुन्ध नर्तन मात्र न होकर उसकी एक व्यवस्थित समष्टि है। संवेदन का विषय नित्य परिवर्तनशील होता है इसलिए उसकी कड़ियों को एक सूत्र-बद्व करने के लिए एक ऐसी सत्ता की आवश्यकता होती है जो स्वयं तो इन परिवर्तनशील संवदनाओं से अलग होकर भी इनका नित्य कूटस्थ द्रष्टा हो यही साक्षी है। इस साक्षी तत्व की प्राप्ति चेतना की विभिन्न दशाओं के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाती है।

1. सुसुप्ति की अवस्था से प्राप्त तर्क

सुसुप्ति में बुद्वि की सम्पूर्ण वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं।[1] फिर भी सोकर उठने के बाद हम यही कहते हैं कि ''मै खूब सोया'' (अहंस्वाप्स्यम्)[2] इससे यही सिद्व होता है कि सुसुप्ति में यद्यपि ज्ञान का

---

1 प्रलीन सर्वेन्द्रिय तुद्विवृत्तिः ।
विवेक चूडमणि 122

2 सिद्वान्तलेश संग्रह प्रथम परिच्छेद पृष्ठ-191

विषय नहीं होता फिर भी कोई सत्ता अवश्य विद्यमान होती है जिसके कारण ''मैं सोया'' मैंने कुछ नहीं जाना इत्यादि बोध होता है।

सामान्य अवस्था में घटादि विषय का ज्ञान अन्तःकरण की वृत्तियों के द्वारा होता है, यद्यपि सुसुप्तादि अवस्थाओं में अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ नहीं रहती है।[1] तथापि इन अवस्थाओं में यह अनुमान नहीं किया जा सकता है कि इन अवस्थाओं में चैतन्य नहीं रहता। अतः यह मानना पड़ता है कि कूटस्थ चैतन्य जाग्रदादिक अवस्थाओं के अतिरिक्त सुसुप्तादि अवस्थाओं का भी पर्यवेक्षण एवं साक्षी होता है।[2] इस प्रकार विशुद्ध सुसुप्ति की अवस्था चैतन्य के ऐसे स्वरूप की ओर संकेत करती है जो मन की समस्त वृत्तियों के अविद्या में लीन होने के बाद भी अपनी चैतन्य युक्त प्रेक्षक दृष्टि से निरन्तर जीव के जीवत्व का तथा उसकी सुसुप्ति का साक्षित्व प्रदान करता है। इस प्रकार सुसुप्ति की अवस्था भी साक्षी के अस्तित्व का प्रभाव है।

2. *स्वप्न की अवस्था से प्राप्त तर्क*

स्वप्नानुभव में विषयों का एक आन्तरिक साम्राज्य स्थापित हो जाता है। स्वप्नगत अनुभव के विषय जो वाह्य से प्रतीत होते है वास्तव में मन के विकास ही है। मन या अविद्या स्वयं सुप्त जीव के साथ संयुक्त होकर स्वप्न के विषयों का रूप हैं। ये विषय वाह्य जगत से न

---

1 पंचदशी 8.20

2 चिदाभास विशिष्टानां तथानेकाधियामसो
संधिंधियाम भावं च भासमन्प्रविविच्यताम् ।
विवेक चूड़ामणि 8.3

आकर चैतन्य की आन्तरिक सृष्टि है। स्वप्न में मन ही अपनी शक्ति से भोक्ता भोग्यादि प्रपंच रचता है।[1] स्वप्नावस्था में शरीर एवं अनुभव वृत्ति सब सुसुप्ति में चले जाते हैं फिर भी कोई ऐसी सत्ता है जो जाग्रतावस्था में रहती है तथा जो अपने समग्र उपस्थित स्वप्न संसार का द्रष्टा बनती है। आचार्य शंकर के अनुसार स्वप्न में कारण, कर्म, कर्त्ता, क्रिया फल और बुद्धि सब उसी प्रकार से देखी जाती है जैसी की जाग्रत दशा में देखी जाती है। इसलिए द्रष्टा इससे अन्य ही होता है।[2]

स्वप्न की यह विशेषता होती है कि इसकी प्रत्येक वस्तु भ्रमात्मक होती है। यहां तक कि विषयता या ''इदन्ता'' जिसके अभाव में कोई विषयगत अनुभव संभव नहीं है वह भी भ्रमात्मक ही है। जाग्रत अवस्था में भी भ्रम होते हैं किन्तु इस भ्रम में एवं स्वप्नवस्था के अनुभव में अन्तर है क्योंकि जाग्रतावस्था के भ्रम में ''इदन्ता'' का आधार भ्रम नहीं होता ''यह सर्प है'' इस दृष्टान्त में ''यह'' आधार है जो पूर्णतः (असत्) भ्रम नहीं हो सकता। इस प्रकार जाग्रत अवस्था के भ्रम का आधार रस्सी है जिसका अस्तित्व वास्तविक होता है। निष्कर्षतः सर्प की आनुभविक देशकाल में अवस्थिति होती है किन्तु स्वप्न में वास्तविक देशकाल की उपर्युक्त अनिवार्यत नहीं होती। आचार्य शंकर ने भी कहा है

---

1 स्वप्नेऽथ शून्येसृजति स्वशक्तया
भोक्त्रादि विश्वमन एव सर्वम्।
-विवेक चूड़ामणि 172

2 करणं कर्म कर्त्ता च क्रिया स्वप्ने फलं च धीः।
जाग्रत्येवंयता द्रष्टा तस्माद्तोऽन्यथा।
उपदेशसाहस्त्री (स्वप्नस्मृतिप्रकरण)।

कि स्वप्न में निद्रादोष से कल्पित देशकाल विषय ज्ञाता आदि सभी मिथ्या होते हैं।[1]

किन्तु यहां महत्वपूर्ण प्रश्न है कि स्वप्न के अनुभव का आधार क्या है? बिना किसी आधार के भ्रम हो ही नहीं सकता (निरधिष्ठानख्याति) पुनः स्वप्न का आधार इन्द्रियाँ भी नहीं हो सकतीं क्योंकि वे स्वप्न में क्रियाशील नहीं रहती। मन की वृत्तियाँ भी आधार नही हो सकती क्योंकि कोई वाह्य संवेदनायें नही होती। जीव को भी स्वप्न का आधार नहीं माना जा सकता क्यों भ्रम का अपने आधार से तादात्म्य होता है जैसे सर्प का ''इदन्ता'' रस्सी से। जीव को आधार मानने पर स्वप्नगत भ्रम (स्वप्न का हाथी) मैं के साथ जाना जायेगा और निष्कर्षतः वाक्य होगा ''मैं हाथी हूँ''। अतः सर्वाधिक सशक्त प्राकल्पना इस सन्दर्भ में यही हो सकती है कि साक्षी चैतन्य ही वह आधार है जिस पर समस्त स्वप्न के अनुभव आधारित है।

3. भ्रम की अवस्था से प्राप्त तर्क

भ्रम एक वैयक्तिक अनुभव है जिसमें एक वस्तु के गुणों को दूसरी वस्तु पर आरोपित कर दिया जाता है। भ्रम के विषय को सत् नहीं कहा जा सकता क्योंकि बाद के अनुभव से इसका वाध हो जाता है

---

1 निद्राकल्पितदेशकालविषय ज्ञात्रादि सर्वयथा
मिथ्या तद्वपिहापि जाग्रति जगत्स्वा ज्ञानकार्यत्वतः ।
यस्मादेवमिदंशरीरकरण प्राणहमाद्यप्यसत्
तस्मात् तत्वमसि प्रशान्तभमलं ब्रह्माद्वय यत्परम् ।।
विवेक चूड़ामणि 254

जबकि सत् त्रिकालावाधित होता है। आकाश कुसुम की भांति इसको असत् भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जबतक इसकी प्रतीति होती है वह सत्य ही होता है इसलिए इसे सदसद विलक्षण कहा गया है।

भ्रम के विश्लेषण में हम आगे देखते हैं कि रज्जु सर्प भ्रम में हम यही कहते है कि यह सर्प है और भ्रम निवारण के बाद कहते हैं कि यह रज्जु है। इस प्रकार दोनों अवस्थाओं में ''यह'' अपरिवर्तित रहता है केवल अज्ञान के कारण हम रस्सी को सांप समझ लेते हैं। बाद में भी हम ''यह'' का पुर्नसृजन नहीं करते हैं। इस प्रकार भ्रम की अवस्था में भी एक सत्ता ऐसी अवश्य रहती है जिसे अज्ञात भी ज्ञात रहता है वरना भ्रम निवारण से तात्पर्य वस्तु का पुनर्सृजन मानना पड़ता। तर्कतः एक ऐसे चैतन्य को मानना आवश्यक है जिसे अज्ञात भी ज्ञात हो अर्थात् जो प्रमाता को अज्ञात हो वह भी चैतन्य विशेष को ज्ञात हो। अद्वैत वेदान्त में ऐसे चैतन्य की अवधारणा साक्षी के रूप में की गई है। क्योंकि साक्षी के द्वारा ज्ञात, अज्ञात, यथार्थ, मिथ्या कुछ भी नहीं छिपा है।[1]

4. *चेतना की आन्तरिक अवस्थाओं से प्राप्त तर्क*

चेतना की आन्तरिक अवस्थायें जैसे- सुख एवं दुःख के अनुभव, क्रोध तथा विषाद की भावनायें एवं अन्य मानसिक अवस्थाएं सामान्य अनुभव व्यापार में विशेष महत्व रखती है। इन्हें प्रकाशित करने के लिए साक्षी

---

1 सर्ववस्तुज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षि चैतन्यस्य विषयस्व ।
विवरण प्रमेय सग्रह पृष्ठ-68

चैतन्य की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि अन्त:करण एवं अन्त:करण की वृत्तियाँ स्वयं जड़ होने के कारण इन्हें प्रकाशित नही कर सकती।[1] इसके अतिरिक्त आन्तरिक अवस्थाओं की कल्पना भी ''मैं'' से पृथक् करके नहीं की जा सकती। ये अवस्थायें स्वयं का ही एक अंग प्रतीत होती है और उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है बल्कि वे किसी से सम्बद्ध होकर ही अस्तित्ववान हैं किन्तु वे दूसरी ओर ज्ञान की विशेष भी हैं। सुख स्वयं में एक विषय है किन्तु इसका ज्ञाता (विषयी) स्वयं विषय नहीं बन सकता है। किन्तु यह आनुभविक सुख या वस्तुगत सुख जो वाह्यारोपित होता है तभी तक होता है जब तक वाह्य वस्तु का सम्बन्ध हैं यह वस्तुगत सुख उस अनुभव से भिन्न होता है जो गहन निद्रा में होता है यह जीव (सुख स्वरूप) की विशेष प्रकृति है। वस्तुगत सुख की प्रतीति तो प्रमाता की होती है किन्तु इस सुख से परे एक आनन्द की अवस्था है जो साक्षी की स्वयं की स्थिति है। इच्छारहित स्थिति में प्रमातृवोध समाप्त हो जाता है तो साक्षी को आनन्दानुभूति होती है इस प्रकार आन्तरिक अवस्थाएँ अपने आधार रूप में साक्षी को सिद्ध करती है।

चेतना के जाग्रत अनुभवों से प्राप्त तर्क

चेतना की विभिन्न परिवर्तनशील आन्तरिक अवस्थाओं के मध्य यदि इसका द्रष्टा सदैव अपरिवर्तित न माना जाय तो अनुभव की एकता संभव न होने से ज्ञान असंभव हो जायेगा सुखदुखादि से तादात्म्य न

---

1 ''सिद्धान्त लेशसंग्रह''- प्रथम परिच्छेद पृष्ठ-180

स्थापित करने वाला यह द्रष्टा या वोधकर्त्ता ही साक्षी है तथा तादात्म्य स्थापित करने वाला चैतन्य प्रमाता है। इस प्रकार समस्त अनुभव जिसके द्वारा किये जाते है किन्तु जो अनुभव का विषय नहीं है साक्षी है।[1]

साक्षी को जीव को अज्ञात विषयों का भी ज्ञान रहता है। "मैं अज्ञानी हूँ" यह साक्षी द्वारा ही संभव है क्योंकि ऐसा तभी संभव हैं जबकि अज्ञान का भी ज्ञान हो। ज्ञान एंव अज्ञान विरूद्ध धर्मक होने से प्रमाता के लिए एक साथ ज्ञेय नहीं हो सकते। यह तो उसी के लिए संभव है जिसे अज्ञात भी ज्ञात हो। वह तत्व साक्षी ही हो सकता है।[2] यह अतीन्द्रिय साक्षित्व है।

"मैं नहीं जानता" यह अनुभव साक्षी एवं प्रमाता का स्वरूप निर्धारित करता है। वह साक्षी है जो अज्ञान को सीधे देखता है जबकि प्रमाता को मैं का ज्ञान रहता है। साक्षी सत्य एवं असत्य के मध्य विभाजक रेखा नही खींच सकता, दोनों समान रूप से उसके समक्ष उपस्थित रहते है। सभी प्रकार के विभेद बुद्धि जन्य है। आनुभविक जीव जिसमें देखता है उससे अभिन्न नही हो सकता, न ही उससे निरपेक्ष हो सकता है। जीवन भ्रम को नकार देता है जबकि भ्रम वास्तव में साक्षी द्वारा अनुभूत है। सभी ज्ञान वस्तुनिष्ठ अज्ञान को नष्ट करके ही उत्पन्न होता है। वस्तु एवं ज्ञाता दोनों उपस्थित थे परन्तु ज्ञान नही था। इसका कारण दोनों के

---

1 विवेक चूड़ामणि-216

2 सर्ववस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षि चैतन्यस्य विषय एव ।
विवरण प्रमेय संग्रह सूत्र । वर्णक। पृष्ठ 66 (अध्यासविचार)

बीच में एक आवरण का होना है अर्थात् वस्तु दोनों रूप में विद्यमान थी, पहले आवृत्त फिर अनावृत्त, परन्तु जब आवृत्त थी तब उसका बोध किस सत्ता को था? इसका बोध किस चैतन्य को हो सकता है? वह प्रमाता नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो वृत्ति में ही देख सकता है एवं वृत्ति का कार्य है आवरण को नष्ट कर देना। अर्थात्-प्रमाता अनावृत्त सत्ता को देख सकता है आवरण को नहीं। आवृत्त अनावृत्त दोनों सत्ता का ज्ञान जिसे होता है वह सत्ता "साक्षी" है। इस प्रकार जाग्रत अवस्था की विविध अनुभूतियाँ साक्षी की सिद्धि में महत्व पूर्ण प्रमाण बनती हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि चिद्रूप आत्मा ही साक्ष्य पदार्थो के सम्बन्ध से साक्षी कहलाता है। असत्य जगत् का आलम्बन होने से साक्षी सत्य है, जड़ जगत् का अवभासक होने से चिद् रूप है तथा सदा प्रेमास्पद होने से आनन्द रूप है।[1] सम्पूर्ण श्रुतियों में कूटस्थ (साक्षी) को पूर्णसत्य, स्वतः प्रमाण, समस्त वस्तु विलग बताया गया है।[2] यह असंग निरतिशय तथा अल्पज्ञ है। जीवन एवं जगत् की विभिन्न परिवर्तनशील स्थितियों (स्वप्न, सुसुप्ति, जाग्रत, अवस्थाओं-बचपन, बृद्धावस्था) का विविध साक्षित्व प्रदान करने वाला चैतन्य (साक्षी) है।

---

1 असत्यालम्बनत्वेन सत्यः सर्वजड़स्य ।
साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रमास्पदत्वतः
पंचदशी 8.57

2 असंग एव कूटस्थः सर्वदा नास्य कश्चन ।
भवत्यतिशयस्तेन मनस्येवं विचार्यताम् ।।
वही 8.70

साक्षी एवं ब्रह्म का संबंध

साक्षी चैतन्य अद्वैतवेदान्त का एक विशिष्ट तत्व है यह ब्रह्म के समान निर्गुणनिर्विशेष और नित्य चैतन्य है जो स्वतः सिद्ध एवं स्वयंप्रकाश है। जीवन एवं जगत के समस्त अनुभव तथा ज्ञान के आत्मतत्व की भांति अधिष्ठान है।[1] किन्तु यहां स्वाभाविक प्रश्न है कि यदि साक्षी भी निर्गुण निर्विशेष निरपेक्ष चैतन्य है तो क्या साक्षी और ब्रह्म दो निरपेक्ष सत्तायें अद्वैतवाद को खण्डित नही कर देती? पुनः यदि दोनों एक ही सत्ता के दो नाम है तो अद्वैतवाद के खण्डन के विषय में उठने वाले प्रश्नों का निराकरण तो हो जाता है किन्तु साक्षी का साक्षित्व निर्गुण, निर्विकार, निर्विशेष, अगोचर, अरूप विभु, परब्रह्म के स्वरूप लक्षण को खण्डित कर देता है और अद्वैतवाद की ब्रह्मविषयक व्याख्या आत्मघाती सी प्रतीत होती है। अतः इस विषय में सर्वश्रेष्ठ समाधान यही है कि साक्षी, ईश्वर एवं जीव की भांति विशुद्व चैतन्य का ही एक रूप है जो परमार्थतः ब्रह्म स्वरूप होते हुए भी व्यवहारतः समस्त जागतिक प्रपंच का द्रष्टा है।

साक्षी के इसी स्वरूप को स्वीकार करते हुए सर्वज्ञात्मा ने कहा ''ब्रह्म या विशुद्ध चैतन्य स्वाश्रिता माया से उपहित होकर अपने में ही कल्पित निखिल प्रपंच को प्रपंचाकार अविद्या वृत्ति स्थित अपने आभास द्वारा प्रकाशित करता हुआ साक्षी कहलाता है।[2]

---

1 भारतीय दर्शन - सी0 डी0 शर्मा- पृष्ठ - 251

2 निजमायया परिगतः पुरूषः परतन्त्रया तु निजयाप्रमया।
परिकल्पितं सकलमाकलयन् सहि साक्षितामुपगतोभवति।।
सक्षेपशारीरक 2.30 ।

इस प्रकार साक्षी तथा ब्रह्म के बीच कोई तात्विक भेद नहीं है श्रुतियों में भी साक्षी के लिए चेता: केवल: निर्गुण: ब्रह्म वोधक शब्द कहे गये हैं।[1] इससे साक्षी का ब्रह्म से अभेद सूचित होता है। किन्तु यह अभेद पारमार्थिक दृष्टि से माना जा सकता है व्यवहारिक रूप में साक्षी की अवधारणा को ब्रह्म में आरोपित नहीं किया जा सकता है क्योंकि साक्षी के लिए द्रष्टा एवं दृश्य का द्वैत आवश्यक है तथा ब्रह्म से व्यतिरिक्त कुछ है ही नहीं, वह तो केवल है इसलिए उसे द्रष्टा नहीं माना जा सकता। ब्रह्मेतर दृष्य अविद्याजन्य है और ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है। अत: उसमें साक्षी की अवधारणा आरोपित नहीं की जा सकती, क्योंकि साक्षी की अवधारणा अविद्या के बिना संभव नहीं है।[2] अविद्या से ही ज्ञाता ज्ञेय का भेद होता है और ज्ञेय बिना साक्षी का अर्थ ही क्या रह जाता है। जब जीव को आत्म-स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और अविद्या दूर हो जाती है तो उसे स्थिति में ब्रह्म ही एक मात्र सत् सिद्व होता है।

प्रो0 एम0 हिरियन्ना का मत है कि साक्षी का प्रत्यय अन्त:करण का सापेक्ष है और इसलिए इसे पारमर्थिक नहीं कहा जा सकता। अन्त:करण माया का परिणाम होने से व्यवहारिक सत्ता है और इसलिए अविद्यामूलक प्रतिभासों से उच्चकोटि की सत्ता है। इसे साक्षिस्वरूप कहना होगा जो स्वयं

---

1 एकोदेव: सर्वभूतेषु.........................साक्षी चेता: केवलो निर्गुणश्च ।
श्वेताश्वेतरोपनिषद 6.11

2 वृहदारण्यकोपनिषद भाष्यवार्तिकम् - सुरेश्वराचार्य
1.4; 372 - 380

ब्रह्म ही है इसे पारमार्थिक सत्ता कहा गया है।[1] इस प्रकार अन्तिमतः ब्रह्म ही सत् सिद्व होता है।

जीव और ईश्वर से साक्षी का सम्बन्ध

मायोपहित विशुद्ध चैतन्य को ईश्वर कहा गया है।[2] जबकि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य या अवियावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहा गया है। साक्षी अविद्या की उपाधि से युक्त या अन्तःकरणोपहित चैतन्य है जो तटस्थ द्रष्टा[3], स्वयं प्रकाश[4] तथा उदासीन[5] है। इस प्रकार ईश्वर एवं जीव दोनों साक्षी से भिन्न है क्योंकि ईश्वर में भी जीव की भांति उदासीनता का अभाव पाया जाता है। क्योंकि उसे सृष्टि स्थिति एवं प्रलय का कर्त्ता माना गया है। फिर भी तत्व-कौमुदीकार का मत है कि साक्षी परमेश्वर का ही एक रूप है जो जीव की प्रवृत्तियों निवृत्तियों का ज्ञान रखता हुआ स्वयं उदासीन रहता है इसलिए कहा गया है कि यह ईश्वर का ही एक रूप भेद है।[6] यही ईश्वर साक्षी सभी प्राणियों का अन्तरात्मा है। सभी जीवों का अधिष्ठान, सब में अन्तर्यामी, समस्त कार्यो का अध्यक्ष होते हुए भी उदासीन है। श्रुतियों में कहा गया है एक देव ही सभी जीवों में समाहित, सर्वव्यापी

---

1 भारतीय दर्शन की रूप रेखा-एम0 हिरियन्ना पृष्ठ-354
छठा संस्करण-1987

2 पंचदशी - विद्यारण्यस्वामी - 1.16

3 ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 3.4.2

4 वही 4.3.9

5 द्रष्टत्वे सति उदासीनत्वं साक्षित्वम् ।

6 ईवरस्य रूप भेदोऽसो कारणत्वादिविवर्जितः ।
वेदान्त कारिका-94

और और सबकी अन्तरात्मा तथा कर्मफल प्रदाता सभी जीवों को अधिष्ठान साक्षी चैतन्य केवल निर्गुण ही है।[1] इस मत में उदासीन ईश्वर ही साक्षी है इस प्रकार ईश्वर की वर्गणा में साक्षी का भी अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार जीव की कोटि में भी साक्षी का अन्तर्भाव हो जाता है। आध्यासिक वस्तुओं में एक का गुण, धर्म दूसरे में दिखाई पड़ता है अर्थात् जीव शरीर के धर्मो को अज्ञानवश अपना समझने लगता है इसलिए कुछ वेदान्ती सुख-दुखादि के ज्ञान के साक्षात् द्रष्टा, अविद्या की उपाधि वाले जीव को ही साक्षी कहते हैं और उनके मत में साक्षी जीव की कोटि में समाहित है। अब यहां प्रश्न उठता है कि कर्त्ता भोक्ता रूप जीव कैसे उदासीन साक्षी हो सकता है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जीव स्वरूपत: उदासीन एवं असंग है। उसके इस उदासीन एवं असंग स्वरूप के कारण ही जीव का साक्षी होना सिद्व होता है। जीव का कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अन्त:करण एवं जीव के चैतन्य का तादात्म्य अध्यास के कारण ही होता है। आरोप के मिथ्या होने से जीव का कर्त्ता होना या भोक्ता होना दोनों मिथ्या है। उसका उदासीन रूप ही सत्य है। इसी कारण वह साक्षी है। जगत् में भी अकर्त्ता होने के कारण द्रष्टा होना या साक्षी होना ऐसा प्रसिद्ध है और वह असंग उदासीन प्रकाश जीव में ही साक्षात् संभव है अन्त:करणादि के साथ तादात्म्य का मिथ्यारोप होने पर भी वह स्वत: तो उदासीन ही है इस प्रकार जीव की कोटि में साक्षी का अर्न्तभाव हो जाता है।

---

1 श्वेताश्वेतरोपनिषद् 6.11

आचार्य शंकर के अनुसार निरूपाधिक ब्रह्म चैतन्य ही संसार दशा में उपाधियों के कारण तीन रूपों में बंटा है- **ईश्वर, जीव एवं साक्षी।** बार्तिककार साक्षी एवं ईश्वर को एक मानते हैं जो दो रूपों में प्रतीत होता है जीव साक्षी एवं ईश्वर साक्षी।[1] सी0 डी0 शर्मा के अनुसार जीव सत्यानृतमिथुनीकरण है इसका सत अंश साक्षी एवं अनृत अंश अविद्या कृत जीवत्व है।[2] अविद्या निवृत्ति होते ही जीव साक्षी एवं ईश्वर एक साथ पर ब्रह्म के रूप में प्रकाशित होते है। डा0 राधाकृष्णन प्रमातृ जीव से पृथक साक्षी चैतन्य को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अद्वैत वेदान्त में नित्य चैतन्य ही उस समय साक्षी कहलाता है जब वह अन्तःकरण उपहित होता है और विषयों को प्रकाशित करता है उपाधि के विद्यमान होने मात्र से परमचैतन्य साक्षी हो जाता है।[3] किन्तु डा0 दासगुप्त साक्षी को जीव के साथ संयुक्त कर जीव साक्षी के रूप में मानते हैं। उन्होंने जीव के दो पक्ष करते हुए एक कर्त्ताजीव तथा दूसरा साक्षी जीव[4] निर्धारित किया है जब जीव अन्तःकरण की वृत्तियों को प्रकाशित करता है किन्तु उनसे तादात्म्य नहीं करता है तो वह जीव साक्षी है। ऐसा प्रतीत होता है कि साक्षी में साक्षित्व की जो उपाधि है उसके कारण ही दासगुप्त उसे साक्षी जीव की संज्ञा प्रदान करते हैं।

---

1 वार्तिककार मते तु ईश्वर एवं साक्षी दृशविद्यायायेव जीवेश्वर भेदन दशाहि ।
सिद्वान्तविन्दु पृष्ठ- 90

2 भारतीय दर्शन-सी0डी0 शर्मा-पृष्ठ 252

3 भारतीय दर्शन भाग-2 डा0 राधाकृष्णन पृष्ठ-526
राज्यपाल एडसन्स, द्वितीय सस्करण-1972

4 भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-1-डा0 एस0 एन0 दासगुप्त-पृष्ठ 434
द्वितीय संस्करण 1988

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि साक्षी निर्विशेष शुद्व चैतन्य है जो उपाधि के कारण उपाधि से सर्वथा निर्लिप्त रहकर देहेन्द्रियान्तःकरण विषयादि को प्रकाशित करने तथा देखने के कारण साक्षी कहलाता है उपाधि भेद से ही अन्तःकरण से उपहित चैतन्य **"जीव साक्षी"** एवं माया से उपहित साक्षी **"ईश्वर साक्षी"** कहलाता है। आगे जीवसाक्षी एवं ईश्वर साक्षी दो शीर्षकों के अन्तर्गत इसका विवेचन किया जायेगा--

जीव साक्षी

जीव और साक्षी दोनों चैतन्य के दो रूप है। जीव अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है जिसने अन्तःकरण के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया है ऐसा भामतीकार का मत है कि जबकि विवरणमत में अविद्या प्रतिविम्बित चैतन्य ही जीव है। ब्रह्म ही अविद्या में प्रतिविम्बित होकर जीव कहा जाता है। जीवसाक्षी अन्तःकरणोपहित चैतन्य है।[1] अर्थात् अन्तःकरण उसकी उपाधि है। जो चैतन्य अन्तःकरण से व्यातृत्त होकर अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाता है वह चैतन्य साक्षी कहा जाता है। एक ही अन्तःकरण जीव को जिस प्रकार जीव को व्यावर्तित करता है उसी प्रकार साक्षी को भी व्यावर्तित करता है। अद्वैत वेदान्त में जीव एवं जीव साक्षी तथा ईश्वर स्वयं साक्षी का भेद प्रदर्शित करने के लिए दो बातें मानी गई है- **एक विशेषण** तथा **दूसरी उपाधि**। विशेषण उसे कहते है जो वस्तु

---

1 सिद्वान्तलेषसंग्रह-श्रीमद्अप्पयदीक्षित विरचित-प्रथम परिच्छेद 95 पृष्ठ 189
अच्युतग्रंथमाला काशी सवत् 2011

के साथ रहता है और अन्य वस्तुओं से उसका भेद प्रदर्शित करता है जैसे नीलकमल में नील गुण सदैव रहता है और अन्य कमलों से उसका भेद प्रदर्शित करता है।

उपाधि की यह विशेषता है कि वह वस्तु के साथ सदैव नहीं रहती किन्तु वस्तु को अन्य वस्तुओं से अलग कर देती है। जैसे कोई कहे कि वह कबूतर वाला घर मोहन का है तो वहां तक पहुंचने के पूर्व कबूतर वहां रहे या उड़ जाय, उस घर की अलग पहचान तो कर ही ली जाती है। इस प्रकार अन्तःकरण साक्षी की उपाधि है तथा जीव का विशेषण है। वेदान्त परिभाषा में भी कहा गया है "जीव अन्तःकरण विशिष्ट चेतना है और अन्तःकरण की उपाधि से ही वह चेतना साक्षी कहलाती है।"[1] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि साक्षी विविध अनुभवों का निरन्तरा बोध रखते हुए भी उससे भिन्न है और जीव उस चेतना एवं अन्तःकरण के बीच एक तादात्म्य भाव है। साक्षी तटस्थ द्रष्टा है।[2]

शंकराचार्य ने जीव की तीन अवस्थाओं को स्वीकार किया है जाग्रतावस्था में वैश्वजीव, स्वप्नावस्था में तेजस जीव और सुसुप्तावस्था में प्राज्ञ जीव। किन्तु साक्षी इन अवस्थाओं से परे एवं इसका प्रकाशक है। वह तीनों अवस्थाओं के अनुभव तथा अनुभव हीनता की हर स्थिति को जानता है।[3]

---

1 वेदान्त परिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द और शिवदत्त का भाष्य पृष्ठ-46 चोखम्बा संस्कृत सीरिज द्वितीय सस्करण

2 श्वेताश्वतरोपनिषद शांकरभाष्य- 6.11

3 माण्डूक्यकारिका शांकरभाष्य 1.2

यद्यपि जीव एवं साक्षी दोनों परमार्थतः एक विशुद्व चैतन्य है किन्तु व्यवहारिक स्तर पर विभाजक रेखा खीची गई है- जीव कर्त्ता भोक्ता आदि है जबकि साक्षी उसके कर्त्तृत्व एवं कृत्यों तथा नानात्व एवं प्रपंच को तटस्थ भाव से देखता है जीव एवं साक्षी को लक्ष्य करके श्रुति में कहा है- दो पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे है एक उस वृक्ष के स्वादु फल का भोग करता है दूसरा केवल देखता हुआ बैठा है। शरीर वृक्ष है, फल का भोग करने वाला पक्षी जीव है और द्रष्टा पक्षी जीवसाक्षी है।[1]

सुरेश्वराचार्य के अनुसार जीव जड़मिश्र चैतन्य है वह कर्त्ता भोक्ता आदि है कर्त्ता होना विकार युक्त होता है साक्षी तटस्थ ही हो सकता है वह स्वतः सिद्व है उसमें व्यभिचार नही होता वह कर्त्ता भोक्ता नहीं है जीव के कर्मो को देखता है। जीव अपने कर्म का कर्त्ता भोक्ता है। जीव अनेक है किन्तु साक्षी एक है।[2]

प्रो0 एम0 हिरियन्ना ने भी जीवसाक्षी शब्द का प्रयोग किया है जिसकी विशेषताएं है दीपक के समान नित्य प्रकाशवान सुसुप्ति में भी प्रकाशित अन्तःकरण की उपाधि से प्रभावित परिछिन्न एवं वैयक्तिक। एक साक्षी के द्वारा जाग्रत, स्वप्न, सुसुप्ति की जो अवस्थायें प्रकाशित होती हैं वह अन्य के द्वारा प्रकाशित नहीं होती किन्तु इसका तात्पर्य यही होगा कि

---

1 द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्लं स्वाद्वन्त्यनश्नन्दन्योऽभिवाकशीति ।।
श्वेताश्वतरोपनिषद 4.6

2 वृहदारण्य भाष्य वार्तिक - सुरेश्वराचार्य - 1.4.668 एव 669

साक्षी अनेक हैं वे जीव से पृथक नहीं। किन्तु हिरियन्ना साक्षी को जीव की तीनों अवस्थाओं में विद्यमान भी मानते है। इससे जीव से साक्षी की पृथकता भी ज्ञात होती है। इस प्रकार ये दो स्वतः विरोधी बातें सामने आती है।[1]

इस प्रकार स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि जीव व साक्षी एक हैं या अनेक हैं?

यदि जीव को अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य माना जाय और साक्षी को अन्तःकरणोपहित चैतन्य माना जाय तो जीव को अनेक मानना पड़ेगा तदन्तर जितने जीव उतने साक्षी भी स्वीकार कने होंगे। किन्तु ऐसा मानने पर पुनः प्रश्न उठेगा कि इन साक्षियों का द्रष्टा कौन है? इस प्रकार अनवस्था एक प्रश्न और उठ जाता है कि जीवमुक्त होने पर स्वरूपतः साक्षी ही हो जाता है या अलग रहता है? जहां तक बन्धन एवं मोक्ष का प्रश्न है इसका सम्बन्ध जीव से ही है साक्षी से नही। प्रपंच एवं बन्धन अज्ञान के कारण है अज्ञान के नष्ट होते ही जीव का कर्तृत्व भोक्तृत्व तथा उसके द्वारा दृश्य नानात्व समाप्त हो जाता है तथा जीव ब्रह्म स्वरूप हो जाता है ''ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति''[2] जीव के जीवत्व की समाप्ति के बाद साक्षित्व भाव भी समाप्त हो जाता है इस प्रकार साक्षित्व एवं जीवत्व दोनों व्यवहारिक सत्य है तथा अज्ञान पर्यन्त ही दोनों ही सत्ता है।

---

1 भारतीय दर्शन की रूपरेखा-एम0 हिरियन्ना - पृष्ठ 341-42

2 मुण्डकोपनिषद 3.2.9.

ईश्वर साक्षी

साक्षी ईश्वरतत्व एवं जीवतत्व के मध्य चित् की एक ऐसी अवस्था है जो एक ओर ब्रह्मतत्व के समान निर्गुण एवं असंग है दूसरी ओर वह प्रतिमुहुर्त जीव के साथ-साथ रहती हुई उसके प्रत्येक कार्यसंकल्प से चेष्टा पर्यन्त को अनवरत देखती रहती है इस प्रश्न से वह ईश्वर तत्व का ही एक रूप है जिसमें रहता हुआ वह जीव के सब कर्म देखता है और उसी के अनुसार कर्मफल विद्यमान को सम्पन्न करता है।

मधुसूदन सरस्वती ने सिद्वान्त विन्दु में वार्तिक-कार के मत में ईश्वर को साक्षी कहा है।[1] ईश्वर अपने तथा जीव के प्रति सर्वदृश्य भासक है क्योंकि सर्वदृश्याधिष्ठान है[2] **''कर्माध्यक्षः सर्वताधिवासः'', साक्षी चेता केवलों निर्गुणश्च''** इत्यादि श्रुतियाँ ईश्वर के सर्वज्ञ तथा साक्षी होने में प्रमाण है।

रामाद्वय के मत में ''एकोदेवः सर्वभूतेषु''[3] आदि श्रुतिवाक्यों से सिद्व होता है कि ईश्वर का कोई स्वरूप विशेष ही साक्षी है जो जीव की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का अनुमत्ता एवं उदासीन है। ईश्वर का रूप विशेष होने पर भी वह कारणत्व आदि धर्मो के न रहने से अपरोक्ष है और

---

1 वातिककार मेतेत्वीश्वर एवं साक्षीति-
सिद्वान्तविन्दु (विवरणप्रस्थान टीका सहित), पृष्ठ-90

2 न्यायरत्नावली (सिद्वान्त बिन्दुव्याख्या)-
ब्रह्मानन्द पृष्ठ 272-73
चौखम्बा वाराणसी ।

3 श्वेताश्वेतर उपनिषद् 6.11

जीवगत अज्ञानादि के अवभासक होने के कारण जीव का अत्यन्त अन्तरंग भी है। सुषुप्त्यादि में अन्तःकरण तथा सद्वृत्तियों के उपसम होने पर जीवगत अज्ञान मात्र का व्यंजक होने के कारण साक्षी को प्राज्ञ भी कहा जाता है। एक ही ईश्वर नियम्य माया तथा तत्कार्य के नियत्तृत्व की अपेक्षा से नियन्ता तथा साक्ष्य अर्थ के साक्षित्व से साक्षी हो जाता है।[1] स्पष्टतः साक्षी ईश्वर अर्न्तयामी में कोई विशेष अन्तर नहीं है केवल कार्य की दृष्टि से एक ही ईश्वर के विविध नामों का व्यपदेश है। फलतः जो ईश्वर का लक्षण होगा वही साक्षी एवं अन्तर्यामी का भी जैसे-

चिदाभासं स्वयज्ञानं सनिपत्ये तदक्षरम् ।[2]
कारणंसत्स्वकार्येषु नियन्तृत्वं प्रपद्यते ।।
कूटस्थं दृष्टितन्मोहो दृष्ट्याभासश्च तत्त्रयम् ।[3]
कारणं जगतः साक्षी नियन्त्येति च भस्यते।।

जीव एवं जीवसाक्षी की भांति ईश्वर एवं ईश्वर साक्षी में भी अंतर है। माया-वाच्छिन्न चैतन्य है भागती प्रस्थान में ऐसा माना गया है। मायोपहित चैतन्य साक्षी कहा गया है तथा मायाविशिष्ट चैतन्य को ईश्वर, विवरण ग्रंथकारों ने कहा है और वह एक अनादि मायोपहित चैतन्य ईश्वर साक्षी है।

---

1 बृहदारण्यकोपनिषदभाष्यवार्तिकम् 3.9.3.

2 वही 3.4.90

3 वही 3.7.53

जहां तक ईश्वर एवं ईश्वर साक्षी के सम्बन्ध की बात है दोनों चैतन्य की दो अवस्थायें है, दोनों की सत्ता व्यवहारिक है तथा दोनों समान रूप से सत् व असत् हैं, किन्तु उनके बीच कुछ मौलिक भेद है यथा-ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है वह जगत का पालक व संहारक है। जबकि साक्षी में इसमें से कोई गुण नहीं है। ईश्वर जीवों को उनके कर्मानुसारफल प्रदान करता है जबकि साक्षी कर्मफल प्रदात नहीं है वह कर्मो का मात्र द्रष्टा है। वह किसी प्रकार के बन्धन में जीवों के कर्मो को अपना नहीं समझता इसलिए कर्मफल के बन्धन में नहीं पड़ता। साक्षी शुद्ध रूप से प्रकाशमान द्रष्टा हैं। ज्ञान-अज्ञान दोनों को जो उसके मूल में देखता है वह साक्षी है। और ईश्वर वह है जो आवरण के द्वारा सत् को आवृत्त कर विक्षेप के द्वारा सत्येतर वस्तुऐं उपस्थित करता है। साक्षी अज्ञान को देखता है पर आवरण का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता जैसे राहु का प्रकाश राहु से आवृत्त चन्द्रमण्डल से होता है वैसे ही अविद्या का प्रकाश अविद्या से आवृत्त साक्षी से होता है।[1] वस्तुत: साक्षी चैतन्य को जो अविद्या अन्त:करण और अन्त:करण के धर्म सुखादि का प्रकाशक है, को छोड़कर अन्य चैतन्य को ही अज्ञान आवृत करता है। साक्षी स्वयं अज्ञान से आवृत्त नहीं होता। साक्षी जान सकता है देख सकता है इस लिए वह स्वयं कभी आवृत्त नहीं हो सकता। साक्षी चैतन्य से अतिरिक्त चैतन्य का ही अज्ञान आवरण करता है।[2] विश्व का भ्रम कभी ईश्वर से छिपा नहीं रह सकता।

---

1 अन्नाहू राहुवत केचित् तस्य स्वावृत्त भास्यताम् ।
सिद्वान्त लेशसंग्रह प्रथम परिच्छेद पृष्ठ 193

2 वस्तुतोऽविद्याऽन्त:करणतद्वर्भाव भासकं साक्षि चैतन्यं
विहायैवऽज्ञानं चैतन्यमावृणोतीत्यनुभवानुसारेण कल्पनात्र
कश्चिद् दोष: । अतएव सर्वदा तेषामनावृत्तप्रकाशसंसगीत्
अज्ञानविपरीत ज्ञानसंशयागोचरत्वम् ।
वही पृष्ठ- 194

वह सर्वज्ञ है। वह माया शक्ति के द्वारा सृष्टि करता है किन्तु उससे ठगा नहीं जाता। भ्रम में तो जीव पड़ता है जो अज्ञान को सत्य समझता है। ईश्वर के लिए सभी वस्तुएँ अनावृत्त है। ईश्वर के लिए कोई अज्ञात अस्तित्व है ही नहीं। इन सभी सन्दर्भो में ईश्वर प्रत्यय की तुलना साक्षी से की जा सकती है जिसे साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है। ईश्वर स्वतन्त्र है वह न बँधा है न बन्धन में पड़ता है। साक्षी भी स्वतन्त्र है किन्तु साक्षी को अपनी स्वतन्त्रता का ज्ञान नही होता। जबकि ईश्वर को अपनी स्वतन्त्रता का ज्ञान होता है। साक्षी के लिए बन्धन एवं मोक्ष, सत्य एवं मिथ्या में कोई अन्तर नही पड़ता। वह विचित्र चैतन्य है जो दोनों को समान भाव से देखता है जबकि ईश्वर इन सबका ज्ञान रखता है और उसमें अन्तर भी कर सकता है।

इन विभिन्नताओं के बावजूद जो साम्य है वह यह कि दोनों चैतन्य हैं, दोनों कर्मफल की श्रृंखला से परे हैं। साक्षी पद जीव व अविद्या सापेक्ष है। अविद्या के अभाव में जीव का जीवत्व संभव नहीं है तथा परिदृश्यमान आभासक प्रतीतियों के अभाव में साक्षी व द्रष्टापद निरर्थक प्रतीत होता है। ईश्वर की भी स्थिति कुछ इसी प्रकार है। जबतक जीव माया में बंधा है तभी तक स्रष्टा, पालक एवं संहारक के रूप में ईश्वर भी सत्य है। ज्ञान प्राप्त होने पर ईश्वरत्व, जीवत्व साक्षीत्व उसी प्रकार से मिथ्या सिद्व होता है जैसे रज्जु-सर्प भ्रम में रज्जु का ज्ञान होने पर मिथ्या सर्प समाप्त हो जाता है। इस प्रकार अन्ततः एक मात्र विशुद्ध चैतन्य आत्मा या ब्रह्म की ही सत्ता सिद्ध होती है।

अध्याय-6

अद्वैत चैतन्य सिद्धान्त का खण्डन एवं उसका अद्वैतवादियों द्वारा उत्तर-

(1) नैयायिकों द्वारा खण्डन और उसका उत्तर

(2) बौद्धों द्वारा खण्डन और उसका उत्तर

(3) रामानुज द्वारा खण्डन और उसका उत्तर

(4) मध्व वेदान्तियों द्वारा खण्डन और उसका उत्तर

अद्वैतवाद के चैतन्य सिद्धान्त का खण्डन एवं उसका अद्वैतवेदान्तियों द्वारा उत्तर

अद्वैतवादी दृष्टिकोण

अद्वैतवादी दृष्टिकोण के अनुसार चेतना एक जटिल वस्तु नहीं है, जिसे कि सरलतर वस्तुओं में विशिष्ट किया जा सकता है। वह एक ऐसी आधारभूत तथा अविश्लेषण योग्य वस्तु है कि अचेतना की किसी नकारात्मक संज्ञि के द्वारा उसकी विपरीतता नहीं हो सकती। इस दृष्टिकोण के आधारभूत सिद्धान्त यह हैं कि ''अचेतना का कोई अस्तित्व नहीं है'' सम्पूर्ण अस्तित्ववान वस्तुएँ चेतना में प्रत्यक्ष होती हैं तथा उसमें परिणत की जा सकती है, जबकि चेतना स्वयं न किसी ऐसी वस्तु पर आश्रित है, न किसी ऐसे के द्वारा उसका प्रत्यक्ष ही होता है, जिसमें कि उसे परिणत करना संभव हो सके। चेतना सब यथार्थ का आधार है। उसके अस्तित्व में होने से जगत का अस्तित्व है; और उसके न होने पर कुछ भी नही हो सकता है। इसतरह की आधारभूत स्थिति और किसी वस्तु की नही है, अन्य वस्तुएँ हों तो वह रहती है; न हों तब भी रहती हैं। इस आधारभूत चेतना को वेदान्तवादी, ब्रह्म कहता है।[1]

हम कभी-कभी अपने में या किसी अन्य पदार्थ में अचेतनांश को अनुभव करते हैं किन्तु यह सत्य सत् का केवल व्यावहारिक तथा

---

1 ''भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप (चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी)'' डॉ0 श्रीकृष्ण सक्सेना पेज-153-54 से उद्धृत ।

प्रतीकात्मक **पौद्गलीकरण** है। न कि स्वयं सत् ही जो कि केवल शुद्ध ''चित्'' रूप में ही अस्तित्व में होता है।

मनुष्य का किसी भी क्षण का अनुभव वस्तुत: एक सम्पर्ण विश्व है, किन्तु व्यावहारिक कारणों से वह अपने अनुभव की समग्रता की उपेक्षा करता है, या केवल उन विशिष्ट लक्षणों को ही पकड़ता है, जो कि उस समय उसे लाभानुकूल और उपादेय प्रतीत होते हैं। वह प्राप्त आनन्द में से एक अंश मात्र को पृथक काट लेता है। और केवल इस अंश को ही उस क्षण की अपनी चेतना मानता है। वस्तुत: दिये हुए अनन्त की कोई सीमाएँ नहीं बांधी जा सकती, जो कि तार्किक अंशी है। और समग्र को अपने में समाये हुए है। यह निरपेक्ष ब्रह्म है जो अज्ञान और अविद्या के कारण हमारे व्यावहारिक अनुभव के विशिष्ट टुकड़ों में सीमित तथा चेतना अचेतना के भागों में विभक्त है। इसके विपरीत वस्तुओं को उसी रूप में देखने से जैसी कि वे हैं, अर्थात् विद्या के द्वारा देखने से, दिए हुए अनुभव की सीमाओं को असीम तक पीछे हटाया जा सकता है। और चेतना की पूर्णता की पुनर्खोज की जा सकती है।[1]

1. प्रतिफलन सिद्वान्त के अनुसार अनुभव निरपेक्ष चेतना जो कि सर्वव्यापक है, अचेतन बुद्धि में प्रतिफलित होती हैं, जो कि उसके निकटतम है तथा अपनी शुद्वता एवं उस प्रकार की क्षमता के कारण उसके प्रति-फलन करने

---

1 ''भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण'' - प्रो0 संगम लाल पाण्डेय पृष्ठ 295 (द्वितीय सस्करण, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद) से उद्धृत ।

वाले विशेषणों के विभिन्न रूपों के साथ उसी प्रकार अपना तादात्म्य कर लेता है, जिस प्रकार कि चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल के सतत् परिवर्तित होते रूपों का अनुसरण करता है।[1] जिस प्रकार जल में प्रतिविम्बित चन्द्रमा जल के हिलने डुलने के कारण हिलता-डुलता हुआ प्रतीत होता है, या जिस भांति की स्फटिक अपने निकट पदार्थ का रंग ग्रहण कर लेता है, तथा पदार्थ के रंगानुसार कभी लाल और कभी हरा प्रतीत होता है और यद्यपि स्वयं अपने आप में वस्तुतः न तो चन्द्रमास हिलता है, और न स्फटिक ही रंगीन होता है उसी प्रकार ब्रह्म भी है।

जिसका स्वरूप कि विशुद्ध तथा विभेद हीन चेतना का है, अपनी उपाधियों के स्वरूपानुसार जिन पर कि वह प्रतिफलित या प्रतिविम्बित होता है, सविभेद तथा अचेतन प्रतीत होता है।

किन्तु प्रतिफलन दी ही हुई वस्तुओं के बीच सम्बन्ध की परिकल्पना है। अद्वैत ही वास्तविक समस्या तो इसके पूर्व ही उपस्थित हो जाती है। यह समस्या है ब्रह्म से अन्य के अस्तित्व की सम्भावना की; जिसके अभाव में किसी भी प्रकार का संबंध संभव नही हो सकता है। यह ध्यान में रखते हुए कि ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी अस्तित्व में नही है। यह प्रश्न सहज ही उठ जाता है कि फिर शुद्ध या निरपेक्ष चेतना के स्वभाव में वह कौन सी वस्तु है जो उसे प्रतीत अचेतना में परिवर्तित कर देती है।[2]

2. परिमितता सिद्धान्त के अनुसार सर्वव्यापी चित्, 'मनस्' बुद्धि तथा 'अहंकार' के अपने विशेषणों के कारण सीमित हो जाता है। इस

---

1 वृहदारण्यक उपनिषद् शांकर भाष्य 2.1.19

2 भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप-डॉ0 श्रीकृष्ण सक्सेना पृष्ठ-158 से उद्धृत ।

सिद्वान्त को समझने हेतु सामान्यतः आकाश का दृष्टान्त दिया जाता है जो कि यद्यपि असीम तथा एक है, किन्तु फिर भी वह घर या बादल के रूप को ग्रहण करने तथा उनसे सम्बन्धित होने के कारण उसे सीमित तथा अनेक कहा जा सकता है।[1]

इस प्रकार अचेतन जगत् सर्वव्यापी तथा असीम चित के स्वपरिमितीकरण के अतिरिक्त और कुछ नही है। असीम ही वास्तविक सत्य है जबकि परिमितता को केवल नाम तथा रूप के कारण ही अस्तित्व में समझना चाहिये। किन्तु यहां भी यह देखा जा सकता है कि 'आकाश' भी अपने को केवल अपने में अन्य से ही विद्यमान होती हैं। यदि केवल आकाश ही अस्तित्व में होता और उससे अन्य कुछ भी नही हो वह सदा असीम ही रहता, कभी सीमित नही हो सकता था। यह स्पष्ट है कि पूर्ण चेतना में स्वपरिमितीकरण के लिए कोई कारण भूत प्रवृत्ति नही है और न कोई आन्तरिक उत्प्रेरणा या कारण ही हैं।

तथ्य यह है कि अनुभव निरपेक्ष पारमार्थिक चेतना तथा व्यावहारिक चेतना या चेतना तथा अवचेतना के बीच की ये दोनों परिकल्पनाएँ (प्रतिबिम्व, प्रतिबिम्ववाद तथा अवच्छेदवाद) विश्व में द्वैत अस्तित्व की मान्यता के पश्चात् ही संगतिपूर्ण हो सकती हैं। ब्रह्म से अन्य द्वितीय के अस्तित्व की सम्भावना की समस्या जो कि अद्वैतवाद की केन्द्रिय कठिनाई है, इन परिकल्पनाओं से अस्पर्शित ही रह जाती हैं। अद्वैतवादी उत्तर निश्चय ही यही होगा, और हो सकता है कि व्रह्म का यह परिमितीकरण भी

---

1 कठोपनिषद् भाष्य - 2.3.13

केवल प्रतीतिमात्र ही है, यथार्थ नहीं। जगत् के रूप में यह ब्रह्म का मिथ्या एवं प्रतीतमात्र परिमितीकरण केवल अज्ञानी के लिए ही है। वस्तुतः ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं।[1]

3. वेदान्त के तीसरे सम्प्रदाय के अनुसार 'जीव' अनुभवातीत आत्मा का न तो प्रतिबिम्ब है, और न परिमितीकरण है। किन्तु जिसप्रकार कुन्ती पुत्र, राधा-पुत्र की तरह जाना गया था, या जिस प्रकार कि निम्नजातीय परिवार में जीवित होने के कारण शाही परिवार के राजकुमार ने अपने को मूल से निम्नजातीय ही समझ लिया था, उसी प्रकार ब्रह्म स्वयं अपनी अविद्या के कारण सीमाएँ ग्रहण करता है, तथा वाद में स्वयं अपने ही विवेक ज्ञान द्वारा मुक्त होता है। सांख्य भी **'राजपुत्रवत तत् उपदेशात्'** में दृष्टान्त स्वरूप इसी कहानी का उपयोग करता है; तथा सांख्य और योग दोनों अद्वैतवादी के समान ही अविवेक की परिकल्पना का भी स्पष्ट निर्देश करते हैं। इसका अर्थ है कि पारमार्थिक सत् में वस्तुतः न तो कोई प्रतिफलन है, और न कोई परिमितीकरण या रूपान्तरण। वह 'अविद्या' या अज्ञान के कारण, जिसकी सत्ता केवल उस समय तक ही रहती है, जब तक कि भ्रम अवशिष्ट रहता है, स्वयं अपने आप को व्यावहारिक लक्षणों को मानने का भ्रान्त विश्वास कर लेता है। इस तरह आत्मा-आत्मा है, और कोई भी आत्मा वस्तुतः वद्ध या मुक्त नही है।[2]

---

1 सदानन्द कृत वेदान्तसार- खण्ड 38-40

2 सांख्यकारिका 62. वैशारदी 2.17

(क) नैयायिको द्वारा खण्डन और उसका उत्तरः

स्वचेतना की समस्या का अध्ययन हमें अहं प्रत्ययहीन तथा अनुभवातीत की एक ऐसी चरम धारणा की ओर ले जाता है जो कि हमारे सम्पूर्ण ज्ञानानुभव की पूर्व प्रस्तावना के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती है। ज्ञान के किसी भी सन्तोषजनक सिद्वान्त के लिए चेतना के दो प्रकारों तथा दो विभिन्न सिद्वान्तों के लिए स्थान बनाना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है, जिनमें से एक रूपान्तरों से गुजरता है, जबकि दूसरा नितान्त अरुपान्तरित तथा अपरिवर्तनीय बना रहता है। पूर्वगामी को अन्तःकरण चित्त या वुद्धि तथा उत्तरोत्तर को चित्त या बोध कहा जा सकता हैं मानसिक रूपान्तर तथा अन्तःकरण की वृत्तियाँ स्वयं केवल अपने ही द्वारा ज्ञान का विधान नहीं करतीं, क्योंकि स्वयं अपने आप पर छोड़ दिये जाने पर वे एकदम सचेतन और जड़ हैं। किसी विषय के ज्ञान का उद्‌भव केवल तभी हो सकता है, जबकि चेतना का प्रकाश या चित् जो कि अन्तःकरण की वृत्तियों से अन्य है, विषय तथा वृत्तियों दोनों को एकत्रित रखता है तथा उन्हें प्रकाशित करता है। अन्तःकरण तथा 'चित्' अचेतन परिवर्तनशील सिद्वान्त तथा चेतन अपरिवर्तनशील सिद्वान्त के मध्य का भेद इतना आधारभूत है कि चेतना की कोई भी तत्वमीमांसा उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती। यह भेद इतना महत्वपूर्ण है कि चेतना की समस्या से सम्बन्धित किसी भी तत्वमीमांसा का वह एक अनिवार्य भाग कहा जा सकता है।[1]

---

1 ''भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप''-डॉ0 श्रीकृष्ण सक्सेना (चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी) पेज-123

न्याय द्वारा आलोचना

नैयायिको ने अद्वैतवाद के चैतन्य सिद्वान्त की बहुत जमकर आलोचना की है। यद्यपि कि बाद में चलकर अद्वैतवेदान्तियों ने उसे निराधार सिद्ध कर दिया है; फिर भी उनके आलोचना का महत्व कम नही है।

श्रीधर अपने ग्रन्थ **"न्याय-कन्दली"** में वेदान्त दृष्टिकोण की आलोचना प्रस्तुत करते हैं कि परमचेतना का आनन्द से तादात्म्य करने वाला सिद्वान्त अन्य विकल्पों की परीक्षा को सहन नही कर सकता है। वह पूछते है कि क्या मुक्तावस्था में आनन्द का वस्तुतः अनुभव होता है, या नहीं? यदि उसका अनुभव नहीं होता है, तब अस्तित्ववान होते हुए भी वह इस कारण अनस्तित्ववान के समान ही है, क्योंकि वह भोग-योग्य नहीं है। और यदि उसका अनुभव होता है तो शरीर तथा इन्द्रियों के अभाव में इस अनुभव के लिए उपकरण कहाँ है? आत्मा को कर्म तथा भावना से निहित होना चाहिये क्योंकि कर्म तथा भावना पोद्गालिकता को निर्दिष्ट करते हैं।[1]

पुनः आत्मा के नित्यानन्द को, जो कि उससे स्वरूपतः सम्बन्धित है, सांसारिक अवस्था में बिना उसके सत् स्वरूप को हानि पहुंचाये हुए उससे विलग नहीं किया जा सकता है। आत्मा या तो इस आनन्द को सदैव ही धारण करती है और उस स्थिति में उसकी उपलब्धि की कोई आवश्यकता नही है या फिर कुछ भी उसे पैदा नही कर सकता है।[2]

---

1 योगासार-संग्रह-4

2 वही-6

इस भाँति आत्मा के लिए नित्यानन्द जैसे कोई वस्तु नहीं है। और अतः आनन्दानुभूति मुक्तावस्था की विधायक स्थिति नही हो सकती है हमें इस कारण मुक्तावस्था को आत्मा की स्वयं की मौलिक अवस्था के जीवन में निहित मानना चाहिये; जो कि संसारावस्था से सम्बन्धित समग्र विशिष्ट उपाधियों के अन्त द्वारा चिन्हित होती है।[1]

अनुभवातीत चेतना का दूसरा अस्वीकारक मत **कणाद्** तथा **श्रीधर** जैसे यथार्थवादी दार्शनिकों की ओर से आता है। यह अस्वीकार इस यथार्थवादी धारणा में पूर्व से ही उपलक्षित है, कि चेतना आत्मा का गुण है। चेतना की शाश्वतता वस्तुतः उसके सम्पूर्ण अनुभव-निरपेक्ष स्वरूप का अस्वीकार चेतना की उत्पत्ति के न्याय वैशेषिक दृष्टिकोण से अनिवार्यतः ही अनुसरित होता है। यदि चेतना की उत्पत्ति परिस्थितियों के संयोग से काल के अन्तर्गत होती है, और वह केवल उस समय तक ही शेष रहती है, जब तक कि वे परिस्थितियाँ अवशिष्ट रहती है; तो चेतना के प्रति यह सम्पूर्ण दृष्टि ही सदोष है, और जैसा कि पूर्व में ही दर्शाया जा चुका है इस प्रत्यक्षीकरण का अत्यन्त प्राथमिक रूप ही अव्याख्यित ही छूट जाता है। रामानुज की भाँति यथार्थवादी भी प्रगाढ़ निद्रा, मूर्च्छा, प्रेत प्रवेश आदि में प्रतीत अचेतना को वृहत रूप देता है, और उसके आधार पर अपना यह विरोध पुष्ट करता है कि यदि चेतना नित्य चित् के स्वभाव की होती तो वह इन अवस्थाओं में भी चेतना बनी रहती ।[2]

---

1 न्यायकंदली पृष्ठ-286-287

2 शांकरभाष्य-2.3.13

किन्तु मानसिक वृत्तियों के ऊपर एक शाश्वतरूप से चेतन सिद्धान्त की आवश्यकता पर दिये गये जोर में, जिनकी की वह पूर्व प्रस्तावना है, उपरोक्त दोषारोपण का उत्तर पहले ही दिया जा चुका है? इसके अतिरिक्त कोई वस्तु यदि किसी स्थिति द्वारा अभिव्यक्त होती है तो वह इस कारण ही उसके द्वारा सृष्ट नही होती है। जागृति, स्वप्न, निद्रा तथा मूर्च्छावस्थायें केवल चेतना की विभिन्न स्थितियाँ मात्र हैं जो कि यदि चेतना पूर्व से ही अस्तित्व में न होती, तो उसे उत्पन्न या विनष्ट नही कर सकती थी। उपनिषद ने इसी कारणवश कहा है कि वह (चेतना) अन्यथा (मूर्च्छा या निद्रा के बाद) कहां से पुनः वापिस आ सकती थी।[1]

नित्य चेतना या अनित्य या अनुभवात्मक चेतना का विभेद अनिवार्य प्रतीत होता है। यदि अनुभवात्मक या अनित्यज्ञान, जो कि न्याय वैशेषिक तथा रामानुज के लिए एक मात्र यथार्थ है, आत्मा के शाश्वत ज्ञान से भिन्न नही होता तो अन्धा व्यक्ति अपने स्वप्नों में देख नही सकता था और यदि सम्पूर्ण ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय जन्य ही होती तो सम्बन्धी के ज्ञान की व्याख्या सम्भव नही हो सकती थी। नित्य ज्ञान या पारमार्थिक दृष्टि चूँकि नित्य ज्ञाता का स्वरूप (द्रष्टा स्वरूपवत) है, इसलिए वह उत्पन्न और विलीन नही होता है।[2]

इस प्रकार नैयायिको तथा वैशेषिकों ने चैतन्य की आलोचना की है। तथा वेदान्तियों ने आगे इसका उत्तर भी दिया है। जिससे इनके द्वारा लगाये गये आरोप खण्डित हो जाते हैं।

---

1 बृहदारण्यक उपनिषद् - 2.1.16

2 ऐतरेय उपनिषद - 3

अद्वैतियों द्वारा उत्तर

न्याय और योग आलोचनाओं का अद्वैत वेदान्तियों ने उत्तर देते हुए कहा कि इस वक्तत्व से कि परम चेतना आनन्दस्वरूप है, यह अर्थ कदापि गृहीत नहीं है कि इस अवस्था में पोद्गालिक अर्थो में आनन्द का कोई भोग होता है, जिसमें कि शरीर और इन्द्रियों की सहायता तथा उपकरणात्मकता या अनुभव के लिए आवश्यक रूप से अपेक्षित विषयी और विषय का द्वैत सन्निहित होता है। उसका अर्थ यह है कि परम चेतना, अचेतना और व्यावहारिक चेतना दोनों से भिन्न और विपरीत आनन्द के स्वरूप की है। अर्थात् अनुभवाश्रित चेतन के क्षोभ और क्रियात्मकता के विपरीत जिसमें कि सुखानुभूति सन्निहित होती है, वह अक्षुब्ध और शान्त है। धनात्मक या ऋणात्मक और स्वीकारात्मक या नकारात्मक अनुभव के मध्य भेद बनाये रखने के हेतु ही उसे स्वीकृत किया जाता है। नकार या अस्वीकार किसी अभाव को स्वीकार ही है। **"सत् आनन्द है"** का अर्थ है कि वह दुःख के ऋणात्मक स्वभाव का नहीं है, बल्कि धनात्मक स्वरूप का है, क्योंकि सत् के प्रति अस्वीकार तार्किक रूप से अन्तिम शब्द नहीं हो सकता है।[1]

इसके साथ ही अस्वीकारवादी की मान्यता के अनुरूप यदि परम मुक्ति केवल दुःख रहितता का ऋणात्मक अवस्था ही है, तो कोई भी

---

1 भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप" (चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी)- डॉ० श्रीकृष्ण **सक्सेना** पृष्ठ-143

दुःखी व्यक्ति अपने को मुक्त अनुभव कर सकता है; क्योंकि उस स्थिति में भी अन्य सम्भाव्य दुःखों का अभाव होता है।[1]

इस तथ्य का उसके द्वारा अस्वीकार यह सिद्व करता है कि वह परमावस्था की एक धनात्मक अवस्था तक ले जाये बिना करना सम्भव नहीं है। आनन्द इस धनात्मक धारणा का ही दूसरा नाम है। किन्तु हमें यह पुनः दोहरा देना चाहिये कि यह भी पूर्ण चेतना का पूर्ण या सत्य वर्णन नहीं है। यह उच्चतम सत्य को केवल श्रेष्ठतम सम्भवनीय ढंग से अभिव्यक्त करता है। यह कहना अर्थहीन है कि मुक्त व्यक्ति आत्मा को आनन्द की भांति जानता है, क्योंकि ब्रह्म या तो अपने आनन्द को सावरोध और अन्तराल से जानता है, या निरवरोध रूप से निरन्तर ही जानता रहता है; और दोनों ही स्थितियों में एक कठिनाई है; क्योंकि पहली स्थिति में कहने से कोई प्रयोजन पूरा नहीं होता है; तथा दूसरी स्थिति में ब्रह्म परिवर्तनमय हो जाता है। अतएव श्रुतियों की व्याख्या ब्रह्म के स्वरूप निर्धारण की भांति करनी होगी, न कि इस निर्देश की तरह कि आत्मा को आनन्द का ज्ञान या बोध होता है।[2]

यह अविचारणीय है कि शुद्ध चेतना के आनन्द का अर्थ एक अनुभवयोग्य या भोगयोग्य आनन्द होता है, क्योंकि आनन्द ब्रह्म का, जिसमें न खंडांस है, और न गुण है, न गुण है, और न कोई खंड। वह केवल

---

1 न्यायकन्दली - पृष्ठ - 287

2 वृहदारण्यक - 3.9.28 शांकर भाष्य ।

एक अवर्णनीय और परिपूर्ण सत्ता है; एक और अनन्त, जिसके सम्बन्ध में किन्हीं अन्य पदों की अपेक्षा **'सच्चिदानन्द'** के पद में ही सोचना उचित और श्रेष्ठ है।[1]

स्वीकारवादी अद्वैत तथा अस्वीकारवादी न्याय ओर सांख्य दोनों ही किसी रूप में इस मान्यता में सहमत हैं कि परमावस्था, शुद्वता, गुणविहीनता तथा सांसारिक अवस्थाओं के पूर्ण नकार की अवस्था है। वह स्वयं अपने में क्या है, यह अवर्णनीय है, क्योंकि परमावस्था अनिर्वचनीय है, तथा आनन्द की भांति उसका वर्णन विवेचनात्मक मनस् के लिए उसकी एक सन्तोषजनक धारणा के हेतु एक सहायता मात्र से अधिक नहीं हैं।[2]

(ख) बौद्वों द्वारा खण्डन और उसका उत्तर–

बौद्वों ने अद्वैतवादियों के चैतन्य का खण्डन करते हुए आत्मा ब्रह्म तथा ईश्वर का भी खण्डन किया है। आगे चलकर अद्वैतवादियों ने उसका उत्तर दिया है, फिर भी उनके खण्डन का महत्व कम नहीं होता है।

शून्यवादी दृष्टिकोण है कि चेतना का कोई अस्तित्व नहीं है। चेतना की तरह जगत् में किसी वस्तु की कोई सत्ता नहीं है तथा पोद्गलिक द्रव्यों का एक संयोग मात्र है।

---

1. पंचादशी 11.23
2. वही - 12.24

आत्मवाद का खण्डन

शान्तरक्षित और **कमलशील** कहते हैं कि **'अद्वैतदर्शनावलम्बी औपनिषदिक'** जो ब्रह्मवादी या आत्मवादी हैं, विशुद्ध विज्ञान रूप ब्रह्म या आत्मा को एक मात्र सत् मानते हैं और जीव जगत् रूपी प्रपञ्च को उसी अद्वय तत्व का अविद्याजन्य आभास मानते हैं। हम स्वतन्त्र-विज्ञानवादी भी अद्वय विशुद्ध विज्ञानमात्र तत्व को स्वीकार करते हैं। अतः इन अद्वैतवादियों के मत में एक छोटा सा दोष यह है कि ये तत्व को नित्य मानते हैं।[1] आत्म तत्व को नित्य मानने से वह निष्क्रिय और असत् हो जाता है तथा अविद्या, बन्ध, मोक्ष, मोक्षसाधन आदि सब व्यर्थ हो जाते हैं।

ब्रह्मवाद का खण्डन

ब्रह्मवादी ब्रह्म को नित्य, अद्वय और अविभाग मानते है; जो अविद्या के कारण जगत्प्रपञ्च के रूप में प्रतिभासित होता है। नित्य होने से ब्रह्म अर्थक्रियाशून्य है या फिर उससे जगत् का युगपदुत्पत्तिदोष आ जाता है।[2]

पुनश्च यदि ब्रह्म सदा आत्मज्योति स्वरूप है, तो अविद्या और बन्ध असम्भव है, एवं सब अयत्नतः मुक्त हो जायेगें। और यदि अविद्या ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति है, तो मोक्ष असम्भव है। यदि अविद्या ब्रह्म से भिन्न शक्ति है तो अद्वैतवाद नष्ट हो जायेगा। अपि च, अविद्या को

---

1 तत्वसंग्रह कारिका 56-87

2 ''भारतीय दर्शन-आलोचन एव अनुशीलन'' डॉ0 सी0 डी0 शर्मा पृष्ठ 129 से उद्धृत ।

अवाच्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अवाच्य तो अवस्तु ही हो सकती है, और यदि अविद्या अवस्तु हो तो जगत् प्रपञ्च की उत्पत्ति सम्भव नहीं होगी। पुनः ब्रह्म को एकरूप मानने से एक के बन्ध से सबका बन्ध और एक की मुक्ति से सबकी मुक्ति अनिवार्य हो जायेगी।

स्वतन्त्रविज्ञानवादी का कथन है कि उनके मत में अविद्या **"वितथाभिनिवेश वासना"** रूपी शक्ति है और बन्धन इस मिथ्यावासनाशक्ति-जन्य साम्रविज्ञानप्रवाह है। योगाभ्यास द्वारा विद्या के उदय से अविद्या तथा आम्रव के नष्ट होने पर विद्याजन्य अनाम्रव विज्ञानप्रवाह प्रारम्भ होता है इस प्रकार विज्ञान की यह निर्मलता ही मुक्ति है। अतः उनके मत में बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था युक्तियुक्त है।

ईश्वरवाद-खण्डन

नित्य ईश्वर जगत्कारण नहीं हो सकता। नित्य पदार्थ खपुष्पवत् है। उसमें अर्थक्रियासामर्थ्य नहीं हो सकता। क्षणिक वस्तु ही अर्थक्रियासामर्थ्य हो सकती है। पुनश्च यदि नित्य को कारण मान भी लिया जाय तो सृष्टि युगपद होगी, क्रमशः नहीं, क्योंकि नित्य सदा विद्यमान है। यदि कार्योत्पाद हेतु उसमें कोई "अतिशय" माना जाय तो इस "अतिशय" को ही कारण मानना पड़ेगा। यह तो हम भी मानते हैं कि कारण चेतन ही हो सकता है, जड़ नही; किन्तु हम नित्य और एक ईश्वर को कारण नहीं मानते।[1]

---

1 अद्वैतदर्शनावलम्बिनश्चौपनिषिदिका:-पञ्जिका, पृ0-123

क्षणिक विज्ञानों में ही अर्थक्रियासामर्थ्य है। कारण एक न होकर हेतुप्रत्ययसामग्री रूप होता है। यह सामग्री कर्मज है और कर्म चेतन द्वारा संभव है। अतः लोक वैचित्र्य हेतुप्रत्ययसामग्री शक्ति भेद के कारण सिद्ध होता है।

नित्य, एक और सर्वज्ञ ईश्वर में कई दोष आते हैं। ईश्वर का भी कोई कारण होना चाहिये, और इस प्रकार अनवस्था दोष आएगा। या तो ईश्वर खपुष्पवत् है, या सृष्टि युगपत् होनी चाहिये; क्रमशः नहीं। पुनश्च ईश्वर सृष्टि को उत्पन्न क्यों करता है? यदि वह दयालु है तो संसार में दुःख, दैन्य, दारिद्रय, अधि-व्याधि, जरा, रोग शोक आदि मोह क्यों उत्पन्न करता है? यदि जीवों के शुभाशुभ कर्मो द्वारा प्रेरित होता है तो वह स्वतन्त्र नहीं है फिर लोक-वैचित्र्य कर्मज सिद्ध होगा।[1] यदि लीला बस सृष्टि करता है तो वह बालक के समान अपनी लीला का भी स्वामी नहीं है। यदि सृष्टि ईश्वर का स्वभाव है तो युगपत् होना चाहिये। यदि मकड़े के समान ईश्वर अपने अन्दर से जगज्जाल बुनता है, तो सृष्टि ईश्वर का स्वभाव नहीं है, क्योंकि जाल बुनना मकड़े का स्वभाव नहीं हैं, वह तो कीड़े-मकोड़े खाने की लालसा के कारण मुंह में आयी लार से जाला बुनता है। यदि सृष्टि ईश्वर से अपने आप हो जाती है तो ईश्वर को बुद्धिमान् भी नहीं कह सकता।[2]

---

1 तत्व-संग्रह, कारिका 57-58

2 वही-56-87

जो तर्क प्रकृति और ईश्वर के अलग-अलग जगत्कारण होने का खण्डन करते हैं वे दोनों के साथ एक जगत्कारण होने का भी खण्डन करते है। पुनश्च यह जगतप्रपञ्च अहेतुक भी नही हो सकता, क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता। अतः वासना वैचित्र्य के कारण क्षणिकविज्ञानप्रवाह ही इस जगत् के रूप में प्रतीत होता है।

चेतना की शून्यवादी अस्वीकृति

चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में अन्वेषण किसी के भी लिए उसके अस्तित्व की पूर्वमान्यता आवश्यक है, क्योंकि जिसका किसी भी अर्थ में कोई अस्तित्व नही है, उस पर कोई भी विवेचना सम्भव नहीं हो सकती। जिस वस्तु के अस्तित्व के खण्डन का प्रयास किया जाता है, उसे भी कम से कम विरोधी की यथार्थ धारणा के जगत् में तो अस्तित्ववान् होना ही चाहिए। इस अर्थ में चेतना से बच पाना सम्भव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वह उसके अस्तित्व के खण्डन के प्रयास में भी उपलक्षित रूप से, स्वयं अपने होने को ही सिद्ध करती है। चेतना का पूर्ण अस्वीकार इस कारण स्वयं अपने आप में अविवेक पूर्ण है, क्योंकि पूर्ण अस्वीकार स्वयं अपना ही अस्वीकार करता है, और उस वस्तु की स्थापना पर समाप्त होता है, जिसके निषेध के लिए कि वह चला था।[1]

---

1 न्याय भाष्य, 2.1.11.

माध्यमिक शून्यवादी द्वारा भी चेतना का अस्तित्व अस्वीकृत किया गया है, किन्तु वह केवल सर्वयथार्थ के सामान्य निषेध के सिद्वान्त के एक भाग के रूप में ही हुआ है। इस दृष्टिकोण का सचेत अध्ययन यह सहज ही स्पष्ट कर देता है कि चेतना के पूर्ण अस्वीकार की प्रकृति बहुत कुछ उसके अनस्तित्व के घटनात्मक ज्ञान के बजाय उसके सुनिश्चित स्वरूप के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के नैराश्य जैसी ही है।[1]

माध्यमिक दार्शनिक, जो कि चेतना के मूलाधार का ही खंडन करता है, इस तथ्य से स्वयं ही खण्डित हो जाता है कि सम्पूर्ण अस्वीकार को अर्थपूर्ण होने के हेतु अपने तार्किक आधार की तरह किसी यथार्थ वस्तु में अवस्थित होना ही चाहिए।[2]

निषेध केवल उस स्थिति में ही सार्थक है जब उसके अतिरिक्त कुछ और भी अस्तित्व में शेष होता है, किन्तु जब प्रत्येक वस्तु का निषेध ही किया जाता है, तो स्वयं निषेध भी निषेधित वस्तुओं में सम्मिलित हो जाता है। इस प्रकार निषेध के कारण वही वस्तु यथार्थ हो जाती है, जिसका कि निषेध किया गया था तथा इस प्रकार पूर्ण निषेध स्वयं ही अपने प्रयोजन को पराजित कर देता है। इस कारण ही शून्यवादी को भी कुछ का ज्ञान और यथार्थत्व मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है।[3] उसे कम से कम यह तो कहना ही पड़ता है कि अभाव का ज्ञान यथार्थ और

---

1 लंकावतार सूत्र, 2.175

2 शांकर भाष्य, 3.2.22

3 वृहदारण्यक शांकर भाष्य, 4.3.7

नित्य हैं।[1] अभाव के ज्ञान को स्वीकार करना तथा साथ ही समग्र ज्ञान की यथार्थता से इन्कार करना स्पष्ट ही अविवेकपूर्ण है। इस कारण सम्पूर्ण विषय **"आत्मपूर्वक"** है।

चेतना का अस्तित्व प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व के पूर्व है। इसलिए किसी भी वस्तु के स्वीकार से वह पूर्वरूपेण स्वीकृत हो जाती है। इस अर्थ में वह ज्ञानमीमांसात्मक रूप से अनुभव निरपेक्ष तथा अनिषेध योग्य है।[2]

किसी ने कभी भी चेतना का अभाव या विनाश अनुभव नहीं किया है, क्योंकि यदि किसी ने वैसा अनुभव कभी किया है तो उस अनुभव के क्षण में उसे उसकी चेतना भी अनिवार्यरूपेण रही होगी।[3]

हम यदि इस समग्र जगत् को शून्य भी घोषित कर दें तब भी उनमें स्वयं शून्य के एक ज्ञाता की पूर्व कल्पना सन्निहित रहती है।[4] 'शून्यस्यापि स्वसाक्षित्वात्' इस आत्मा को इसकी अपरोक्ष उपस्थिति के कारण ही अस्तित्वान् माना जाता है- **"अपरोक्षत्वाक् प्रत्यागात्मा प्रसिद्ध"**।[5]

---

1. प्रश्नोपनिषद् शांकर भाष्य, 6.3
2 शांकर भाष्य, 1.1.1
3 देवी भागवत, 7.32.15.16
4. इंडियन फिलासफी, भाग-2, पृष्ठ 478 - "डॉ0 राधाकृष्णन"
5 शांकर भाष्य, 1.1.1

(ग) रामानुज द्वारा खण्डन और उसका उत्तर-

रामानुज के अनुसार 'आत्मा' नित्य है, तथा उसका प्रकृत गुण चेतना भी शाश्वत है। वह 'चिद्रुप' है तथा 'चैतन्य गुणक' भी है।[1] आत्मा चेतना से संगठित है, जो उसका स्वरूप तथा उसी तरह उनका गुण दोनों है। वह चेतनत्व से ही परिपूर्ण है, पर चेतना उसका गुण भी है।[2] आत्मा मात्र ज्ञान ही नहीं है, बल्कि ज्ञान का विषयी भी है।[3] ज्ञान ज्ञाता और विषयी से, जिसका कि वह गुण है, उसी तरह भिन्न है, जिस तरह सुगन्ध उस भूमि से भिन्न है, जिसमें उसका गुण दीख पड़ता है।[4] इस कारण आत्मा का स्वरूप ज्ञान के रूप में विशुद्ध चैतन्य जैसा उतना नहीं है, जितना कि दीखता है। ज्ञान तो उसे कभी-कभी विषयों से सम्बन्धित करा देता है। यह ज्ञान चेतना सदैव सविभेद होती है, और उसका रुप सर्वदा **'यह यह है'** का तथा अनवरत रूप से परिवर्तनशील होता है।

इस प्रकार रामानुज में आत्मा और चेतना के बीच सम्बन्ध की धारणा स्पष्ट नही है, क्योंकि चेतना आत्मा का नित्य स्वरूप तथा अनित्यगुण दोनों ही कैसे हो सकती है। रामानुज न्यायवैशेषिक यथार्थवादी और शांकर प्रत्ययवादी के मध्य का मार्ग ग्रहण करना चाहते हैं जो कि सुचारू रूप से कार्यकारी प्रतीत नहीं होता है।

---

1 रामानुज भाष्य 1.1.2.

2 वही - 1.1.2. - पृष्ठ - 30

3 रामानुज भाष्य - 2.3.29

4 वही - 2.3.27

स्वतः प्रकाशत्व की रामानुज द्वारा आलोचना:

आचार्य रामानुज को चेतना के स्वरूप के संबंध में अर्धस्वप्रकाशवादी कहा जाता है; क्योंकि उनके अनुसार चेतना केवल कुछ परिस्थितियों के अन्तर्गत ही स्वयं को प्रकाशित करती तथा स्वज्ञेय बनाती है। सर्व परिस्थितियों तथा समयों के अन्तर्गत सब मनुष्यों को इसका प्रकाशन नहीं होता है। वह चेतना इस अर्थ में स्वतःप्रकाशी है कि वर्तमान क्षण में स्वयं अपने द्वारा स्वयं अपने आधार के समक्ष, वह स्वयं अपने को अभिव्यक्त करती है। हमें इस स्थिति को थोड़े विस्तार से निरीक्षण करना चाहिए।[1]

रामानुजभाष्य की यह धारणा कि चेतना कोई विषय नहीं है, ज्ञाता विषयी के लिए उस समय तो उपयुक्त है जब कि वह अन्य विषयों को प्रकाशित करता है, किन्तु सर्वचेतनाओं के स्वप्रकाशी से अन्यथा कभी न होने का कोई निरपेक्ष नियम नहीं है, क्योंकि सामान्य अनुभव और निरीक्षण यह बताता है कि एक व्यक्ति की चेतना अन्य किसी दूसरे व्यक्ति की चेतना या ज्ञान का विषय बन सकती है।[2] इस कारण रामानुज निष्कर्ष निकालते हैं कि चेतना कभी स्वप्रकाशी होती है और कभी नही होती है। स्वप्रकाशत्व और चेतन का अस्तित्व किसी अविच्छेद्य नियम में बॅधे हुए नहीं है। परिस्थिति विशेष में वह स्वज्ञेय बन सकती है और बनती है, किन्तु सर्वदा ऐसा होना आवश्यक नही है।

---

1. ''भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप'' - चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी पृष्ठ - 89
''डॉ0 श्रीकृष्ण सक्सेना''

2. रामानुज भाष्य 1.1.1. पृष्ठ - 24

रामानुज के अनुसार चेतना के स्वप्रकाश का एक मात्र अर्थ यही हो सकता है कि वह वर्तमान क्षण में स्वयं अपने द्वारा, स्वयं अपने ही आधार के समक्ष अपने आप को प्रकाशित या अभिव्यक्त करती है या पुनः यह कि वह स्वयं अपने द्वारा अपने ही विषय को सिद्ध करने में उपकरणात्मक है।

अहं-प्रत्ययहीन चेतना की रामानुजीय आलोचना-

रामानुज के अनुसार, स्वचेतना चेतना का एक अनिवार्य तथा अविभाजनीय लक्ष्य है, आत्मा चेतन विषयी है, जो कि अपने स्वत्व 'अहंप्रत्यय' से कही वियुक्त नही होता है।[1] प्रगाढ़ निद्रा में भी यह **"अहं प्रत्यय"** उपस्थित रहता है, यद्यपि जागृति से थोड़े कम और धुंधले परिणाम में।[2] स्वचेतना की नित्य उपस्थिति का यह सिद्वान्त शांकर दृष्टिकोण के नितान्त विपरीत पड़ता है। यह अहंकार की नित्य उपस्थिति के विपरीत तो नहीं है, जो कि चेतना पर एक भ्रामक आरोप के अतिरिक्त और कुछ नहीं, किन्तु एक अहंहीन तथा अविभेदी चेतना की परिस्थिति के शांकर सिद्वान्त के विपरीत अवश्य है जिसकी रामानुज आलोचना करते हैं।

अहं प्रत्ययहीन चेतना के विपरीत रामानुज की प्रथम आलोचना है कि अहंता आत्मा पर भ्रामक रूप से आरोपित कोई वस्तु नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो हमें इस भांति चेतना की अनुभूति होती कि **"मैचेतना**

---

1 "भारतीय दर्शन के कुछ आधारभूत सिद्वान्त"-बी0 हेमन ।

2 रामानुज भाष्य 1.1.1. पृष्ठ - 29

हूँ।" न कि इस भाँति 'मै चेतन हूँ' जैसा कि हम अपने दैनिक जीवन में प्रतिदिन अनुभव करते हैं'।[1] इसके द्वारा यह स्पष्ट रूप से सिद्व हो जाता है कि आत्मा चेतना का विषयी है। एक ओर एकात्मक चेतना को 'अहं प्रत्यय' तथा 'चेतना' के दो भागों में एक को भ्रामक तथा द्वितीय को एकमात्र यथार्थ मानकर विभाजित नही किया जा सकता। रामानुज की यह आलोचना सत्य और असंगत दोनों ही है।

शंकर के आत्मा और अहंप्रत्यय के विभेद पर रामानुज की द्वितीय आलोचना इस आस्था पर आक्रमण है, कि अचेतन अन्तःकरण ज्ञाता के स्वरूप को धारण कर सकता है। शंकर की मान्यता थी कि चूंकि अहंता या ज्ञाता का स्वरूप, कर्म और परिणामतः परिवर्तन को अपने में समाविष्ट किए हुए है, इसलिए वह अपरिवर्तनशील चेतना से संबंधित नहीं हो सकता। कर्म और परिवर्तन ससीम चेतना के गुण हैं अतःकर्ता या 'ज्ञाता' के गुण चेतना के निम्नतर सिद्वान्त अहं या जीव से ही संबंधित हो सकते हैं।[2]

अद्वैतियों का उत्तरः-

रामानुज की आलोचना के विरोध में अद्वैतवाद का उत्तर यह है कि अचेतन अहंकार चेतना को उसी प्रकार से व्यक्त करता है, जिस तरह कि हाथ सूर्य के प्रकाश को व्यक्त करता है। रामानुज इसके प्रत्युत्तर में

---

1 रामानुज भाष्य 1.1.1. पृष्ठ - 31

2. रामानुज भाष्य 1.1.1. पृष्ठ - 35

कहते है कि यह कथन कि अचेतन अहंकार स्वप्रकाशी आत्मा को व्यक्त करता है, इस कथन से अधिक युक्ति और अर्थपूर्ण नही है कि जला हुआ कोयला सूर्य को अभिव्यक्त करता है। चेतना और अहंकार के दो विपरीत स्वभावों के मध्य अभिव्यक्ति का संबंध किसी भी प्रकार से संभव नहीं हो सकता है। इसके साथ ही, अद्वैत का हाथ और सूर्यकिरण का दृष्टान्त भी सत्य नही है, क्योंकि वस्तुतः सूर्यकिरण हाथ के द्वारा किंचित भी अभिव्यक्त नही होती है।[1]

रामानुज के अनुसार ज्ञाता की धारणा में परिवर्तन की धारणा सन्निहित नहीं है, वे शंकर के इस आधारभूत सिद्वान्त को अस्वीकार करते हैं कि ज्ञाता होने का अर्थ परिवर्तनमय होता है, और इसलिए ज्ञाता अपरिवर्तनशील चेतना से भिन्न होता है।[2]

(घ) मध्व वेदान्तियों द्वारा खण्डन और उसका उत्तरः-

आचार्य मध्व को आनन्दतीर्थ और पूर्व प्रज्ञ भी कहते हैं, तथा इनके सम्प्रदाय का नाम ' ब्रह्मसम्प्रदाय' है। इनके 37 ग्रन्थ उपलब्ध है जिनमें न्यायामृत और तर्कताण्डव सुप्रसिद्व ग्रन्थ हैं। न्यायामृत ने द्वैत अद्वैत सम्प्रदायों में तर्क युद्व की अवतारणा की। जो वर्षो तक चला और जिसके कारण दोनों सम्प्रदायों में उद्‌भट दार्शनिक साहित्य का खण्डन-मण्डन के रुप में सर्जन हुआ। **न्यायामृत** का खण्डन मधुसूदन सरस्वती ने **अद्वैतसिद्वि** में

---

1 वही - पृष्ठ - 32

2 वही - पृष्ठ - 32

किया। शंकराचार्य के मतों का खण्डन-मण्डन करना मध्व वेदान्तियों का प्रिय विषय रहा है।[1]

मध्वाचार्य उग्रद्वैतवादी हैं तथा अभिश्रित द्वैत के पोषक हैं। वे शंकराचार्य के अद्वैतवाद के परमशत्रु हैं। अद्वैतवाद या मायावाद को वे वौद्व शून्यवाद का विकृत औपनिषदिक संस्करण मानते है। उनके अनुसार मायावादी का ब्रह्म और शून्यवादी का शून्य एक ही है।[2] अद्वैतवादियों को वे 'मायिदानव' (मायावाले द्वैत्य) कहते हैं। जो अज्ञानान्धकार में उछलकूद मचाते हैं, और तर्कगमयुक्त द्वैत-सूर्य के उदय होने पर भाग जाते हैं, जिस प्रकार सर्वज्ञ शंख-चक्रयुक्त हरि के आने पर दानव भाग जाते हैं।[3]

मध्वाचार्य ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं। यहाँ उनकी मान्यता न्याय वैशेषिक दर्शन की उस मान्यता के विपरीत है जो ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक गुण स्वीकार करती है। इस प्रकार उनकी दृष्टि से ज्ञाता और ज्ञान परस्पर भिन्न है, क्योंकि ज्ञान ज्ञाता का धर्म है। ज्ञान ज्ञाता के एकरूप नही है।

उनके अनुसार ज्ञान की प्रक्रिया में ज्ञाता ज्ञेय विषय को जानता है। इस कारण ज्ञाता और ज्ञेय इन दोनों के संबंध को ज्ञान कहते है। ज्ञाता के सम्मुख वस्तु-विषय का प्रकटीकरण ही ज्ञान है। मध्वाचार्य इसे विषयी-विषयभाव या दृग्दृश्य-सम्बन्ध कहते है। मध्वाचार्य यथार्थवादी होने के

---

1 ''भारतीय दर्शन-आलोचना एवं अनुशीलन''-डॉ0 सी0 डी0 शर्मा पृष्ठ - 314

2 पच्छून्यवादिनः शून्यंतदेव ब्रह्म मायिनः ।

3 पलायध्वं पलायध्वं त्वरया मायिदानवाः ।
सर्वज्ञो हरिरायाति तर्कागदरारिभृत् ।।

कारण ज्ञान में दो तत्व स्वीकार करते हैं- ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ (प्रमेय)। दोनों की सत्ता वास्तविक है। ज्ञान के लिए दोनों का होना आवश्यक है। वे ज्ञान के विषय को ज्ञाता से स्वतन्त्र मानते हैं। ज्ञाता द्वारा ज्ञेय (प्रमेय विषय) को जानने से अथवा विषयी-विषयभाव से ज्ञेय पदार्थ के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। ज्ञात वस्तु ज्ञान के बाद भी वैसी ही रहती है जैसी वह ज्ञान के पूर्व थी। ज्ञान से वस्तु अन्यथा नहीं बन जाती। पुनः ज्ञाता द्वारा ज्ञेय वस्तु को जानने या न जानने से उसकी सत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

ज्ञेय विषय का स्वरूप और गुण ही ज्ञान का निश्चय करता है। इस प्रकार ज्ञाता ज्ञान की प्रक्रिया में सद्वस्तु को ही जानता हैं। पुनः मध्वाचार्य अद्वैत वेदान्त के निर्विशेष ज्ञान की अवधारणा को अस्वीकार करते है; क्योंकि यह सामान्य अनुभव एवं तर्क के विपरीत है। उनकी दृष्टि में ज्ञान सदैव सविशेष एवं सविषय होता है।

मध्व ज्ञान मीमांसा में साक्षी की अवधारणा महत्वपूर्ण है। 'ज्ञाता की स्वयं की आन्तरिक संवेदना शक्ति ही साक्षी है'। यह आत्मा का स्वरूप चैतन्येन्द्रिय है, जो ज्ञान ग्राहक होने के साथ ज्ञान-प्रामाण्य ग्राहक भी है। मध्व की मान्यतानुसार भौतिक मन इसी के समक्ष अपने सब प्रभावों को प्रस्तुत करता है। मन, इन्द्रिय आदि से उत्पन्न अन्तःकरण का परिणामरूप वृत्तिज्ञान साक्षी से प्रकाशित होने पर ही अपने अस्तित्व को प्रकट करता है। साक्षी से ही अहंभाव की चेतना उत्पन्न होती है।[1]

---

1 ''भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा''। -डॉ0 राममूर्ति पाठक अभिमुन्य प्रकाश पृष्ठ-197 से उद्धृत ।

मध्व के अनुयायियों में जयतीर्थ और व्यासतीर्थ की गणना द्वन्द्वात्मक तर्ककौशल का प्रदर्शन करने वाले मूर्धन्य भारतीय दार्शनिकों में की जाती है। व्यासतीर्थ और मधुसूदन सरस्वती के तर्कयुद्ध के कारण द्वैत और अद्वैत के सम्प्रदायों में खण्डन-मण्डनात्मक उत्कृष्ट दार्शनिक साहित्य का सर्जन हुआ । मायावाद और मिथ्यात्व का खण्डन अद्वैतवेदान्तियों का प्रिया विषय रहा है। द्वैतियों ने भी इस खण्डन में प्राय: रामानुज और वेदान्त देशिक के तर्कों का प्रयोग किया है और अद्वैतियों की ओर से इस खण्डन का उत्तर भी उसी प्रकार दिया जाता है।[1]

श्रीहर्ष और चित्सुख ने 'भेद' का सब दृष्टियों से मार्मिक खण्डन किया हैं जयतीर्थ और व्यासतीर्थ ने इस खण्डन का उत्तर देने का और 'भेद' को सिद्व करने का प्रयास किया है; जिसका पुन: खण्डन मधुसूदन-सरस्वती ने एवं उनके समकालीन नृसिंहाश्रम मुनि ने किया। डॉ0 सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त को भी, जो जयतीर्थ और व्यासतीर्थ के परम प्रशंसक हैं तथा जिनके अनुसार ''जयतीर्थ और व्यासतीर्थ द्वारा प्रदर्शित प्रखर द्वन्द्वात्मकतर्क का कौशल और गहराई समूचे भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में लगभग अप्रतिम है।[2]

यह स्वीकार करना पड़ा है कि 'चित्सुख' ने तत्वप्रदीपिका में, नृसिंहाश्रममुनि ने भेदधिक्कार में तथा अन्य अद्वैतियों ने भेद के खण्डन में जिन तर्कों का प्रयोग किया है उनके आगे मध्वानुयायियों ने भेद के प्रतिरक्षण के लिए प्रयुक्त तर्क दुर्बल प्रतीत होते हैं। व्यासतीर्थ अद्वैतियों के तर्कों का सीधा सामना करने का प्रयास नही करते है।[3]

---

1 मध्य गीता भाष्य पृष्ठ - 277-78

2 ए हिस्ट्री आर्फ इण्डियन फिलॉसॉफी, भाग - 4 प्राक्कथन-8

3 भरतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन, डॉ0 सी0 डी0 शर्मा पृष्ठ - 318

अध्याय-7

समकालीन वेदान्त में चैतन्यवाद

(क) श्री अरविन्द

(ख) श्री कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य

(ग) डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन

समकालीन वेदान्त में चैतन्यवाद

1. श्री अरविन्दः

वेदान्तीय चिन्तन के विकास-क्रम में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और मौलिक योगदान देने वाला यदि कोई व्यक्ति आधुनिक सुधारकों में है तो वे हैं श्री अरविन्द। वेदान्त में आचार्य शंकर ने दर्शन की जिन समस्याओं को सामने रखा और उनका जो समाधान प्रस्तुत किया, रामानुज प्रभृति अनेक वैष्णव आचार्यो ने उसकी आलोचना तो की, परन्तु आचार्य ने जो समस्याएँ सामने रखी उनका समाधान उन्होंने प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया। आधुनिक धर्म सुधारकों में भी स्वामी दयानन्द ने अद्वैत वेदान्त का खण्डन किया, परन्तु वे भी आचार्य को समझ न पाये। श्री अरविन्द दर्शन की यह विशेषता है कि उसमें आचार्य शंकर की समस्याओं को स्वीकृत कर उन्ही के अनुसार समाधान प्रस्तुत किया गया है। वेदान्ती आचार्यो में आचार्य शंकर ने ब्रह्म को निर्गुण और वैष्णव आचार्यो ने सगुण माना है।

श्री अरविन्द के अनुसार ब्रह्म की इस प्रकार की मान्यता एकपक्षीय है। श्री अरविन्द वस्तु के सर्वांगीण विवेचन को अधिक महत्व देते हैं।[1]

वेदान्त में प्रतीयमान समस्त विरोधों के समाधानार्थ श्री अरविन्द जहाँ अनन्त तर्क का सन्देश लाये, वहीं वे आध्यात्मपिपासु जन के लिए भी तन-मन प्राण सभी को दैवी सत्ता के रूप में भी सामने आये।[2] अपने तत्व चिन्तन की कई मान्यताओं में तो श्री अरविन्द का दर्शन विश्व के अन्य समस्त चिन्तकों से अधिक मौलिक हो गया है।[3] अरविन्द दर्शन का न केवल तत्व चिन्तन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है, अपितु तर्कशास्त्र, सृष्टिविज्ञान एवं मनोविज्ञान आदि विषयों में भी उसकी देन मौलिक है। इसके अतिरिक्त उनके दर्शन की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि जहाँ उनके निष्कर्ष आधुनिक दर्शन एवं विज्ञान के समीप हैं, वहाँ वे उपनिषदों की मूल भावना के भी अत्यन्त निकट है।

---

1. आधुनिक चिन्तन में वेदान्त - डॉ0 महेन्द्र शेखावत मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पेज 110 से उद्धृत।
2. डॉ0 रामनाथ शर्मा-अरविन्द का सर्वांग दर्शन की भूमिका से उद्धृत।
3 S K Maitra - An introduction to the Philosophy of Sri Aurobindo, p-68

जीवन परिचयः-

श्री अरविन्द का जन्म 1862 ई0 में हुआ। उन्हें सात वर्ष की अवस्था में ही उनके पिता द्वारा इंग्लैड भेज दिया गया। 29 वर्ष की अवस्था में वे इंग्लैड से वापस आये। उन्होंने लंदन और कैम्ब्रिज में शिक्षा प्राप्त की। श्री अरविन्द ने लैटिन और ग्रीक भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया। 'इण्डियन सिविल सर्विस' परीक्षा में उन्होंने लैटिन और ग्रीक में सर्वोच्च अंक प्राप्त किये। श्री अरविन्द ने फ्रेंच, जर्मन और इटालियन भाषाओं का भी ज्ञान प्राप्त किया। इंग्लैड से लौटने के बाद 1893 ई0 से 1906 ई0 तक का समय श्री अरविन्द ने बड़ौदा नरेश के यहाँ सेवा कार्य में बिताया।

वंग विभाजन के समय श्री अरविन्द सेवा कार्य को छोड़कर राजनैतिक आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने को मैदान में उतरे। राजनैतिक गतिविधियों में उन्होंने चार वर्ष तक सक्रिय भाग लिया। इसी काल में उन्हें कारावास की सजा भी मिली। जब ये अलीपुर जेल में थे तब उन्हें एक बार दिव्य अलौकिक अनुभूति हुई। 'उत्तरपाड़ा अभिभाषण' में श्री अरविन्द अपनी इस दिव्य अनुभूति का वर्णन करते हुए कहते हैं-''तब भगवत शक्ति ने मेरे अन्दर प्रवेश किया। मैंने अपने को मनुष्यों से अलग करने वाली जेल की ओर दृष्टि डाली और देखा कि अब मैं उसकी ऊँची दीवारों के अन्दर बन्द नही हूँ, मुझे तो अब वासुदेव घेरे हुए थे। मेरी काल-कोठरी

के सामने जो पेड़ था, वहाँ अब पेड़ नहीं था, मुझे प्रतीत हुआ कि वहाँ अब स्वयं श्रीकृष्ण खड़े हैं। दरवाजे पर स्वयं ही नारायण सन्तरी बनकर पहरा दे रहे थे। मैंने जेल के कैदियों, चोरों, हत्यारों और बदमाशों की ओर देखा, तो मुझे उन मलिन आत्माओं में भी वासुदेव दिखलाई दिए'' ।

जेल में श्री अरविन्द को जहाँ यह दिव्य अनुभव प्राप्त हुआ वहीं उन्हें हिन्दू-धर्म को उठाने का ईश्वरीय सन्देश भी मिला। तब राजनैतिक जीवन से विरत होकर श्री अरविन्द ने अपना निवास स्थान पाण्डिचेरी बनाया। यही पर उन्होंने मासिक पत्र 'आर्य' निकाला, जिसमें वेद, उपनिषद, गीता, योग आदि विषयों पर लेख प्रकाशित किए। पाण्डिचेरी में श्री अरविन्द ने आश्रम की स्थापना की। आश्रम में रहकर ही श्री अरविन्द ने अपना महत्वपूर्ण ग्रन्थ **'द लाइफ डिवाइन'** लिखा। 1950 ई0 में श्री अरविन्द ने पार्थिव शरीर का परित्याग किया।

श्री अरविन्द का सर्वांग वेदान्त में चैतन्यः-

श्री अरविन्द की प्रमुख विशेषता जिस पर उनका समय दर्शन-प्रसाद स्थित है और जिसके कारण वे अन्य वेदान्ती आचार्यों एवं दार्शनिकों से अलग जान पड़ते हैं।[1] यह है कि वे सर्वग्राही दृष्टिकोण से परमसत्य का निर्धारण करते हैं।

---

1 S K Mitra-An Introduction to the Philosophy of Sri Aurbindo, p-68

श्री अरविन्द के शब्दों में 'परम' सत्य के निर्धारण में यदि हम केवल एक ही पक्ष पर ध्यान दें और उसे पूर्ण मानकर व्यवहार करें तो हम अन्धे मनुष्यों और हाथी की कहानी का उदाहरण स्थापित करेंगे, जिसमें अनुसंधाताओं में से प्रत्येक ने हाथी के किसी अंग का स्पर्श किया और यह परिणाम निकाल लिया कि सम्पूर्ण हाथी वह अंग है, जिसका उसने स्पर्श किया है। अनन्त के किसी एक पक्ष का अनुभव अपना प्रामाण्य रखता है, परन्तु इससे हम सामान्य सिद्धान्त नहीं बना सकते कि अनन्त केवल वही है।[1] इसके अतिरिक्त शेष अनन्त को उस पक्ष की सीमाओं में देखना और अध्यात्म-अनुभव के अन्य समस्त दृष्टिकोणों का बहिष्कार कर देना भी निरापद नहीं है।[2] इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं-''केवल खण्डों को देखना और समग्रता को लेशमात्र भी न देखना, अथवा केवल खण्डों का समूह जानना ज्ञान तो है, परन्तु साथ ही अज्ञान भी। केवल समग्रता को देखना और खण्डों की उपेक्षा करना भी एक ज्ञान है, परन्तु साथ ही एक अज्ञान भी।

श्री अरविन्द इस सर्वग्राहिता को ही अद्वैतवाद का परम निकषा (कसौटी) मानते हुए उसको इस प्रकार परिभाषित करते हैं,-''वास्तविक अद्वैतवाद वह है जो समस्त वस्तुओं को एक ब्रह्म के रूप स्वीकार कर

---

1 Sri Aurobindo - The Life Divine - P -300
2 The Life Divine - P 300

'सर्व खल्विदं ब्रह्म' की श्रुतिप्रतिज्ञा को सार्थक करता है, जो सर्व की स्थिति को दो बेमेल सत्ताओं में जैसे शाश्वत सत्य और शाश्वत मिथ्या और अब्रह्म, आत्मा और अनात्मा में बाँटता है, और अद्वैत नहीं है।[1]

यद्यपि यह सत्य है कि हमारे सामने शुद्ध-सत्ता और विश्व-सत्ता, आत्मा और भूतभाव के दो विभाजित तत्व विद्यमान प्रतीत होते हैं। परन्तु वास्तविक और सार्थक विवेकशीलता इसमें है कि हम अपनी चेतना में इन दोनों तथ्यों को स्वीकार करें और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का अन्वेषण करें। श्री अरविन्द के अनुसार परमावस्था की वह अनुभूति जो निम्न का परित्याग करती अथवा शंकर वेदान्त के समान निम्न अनुभव का अतिक्रमण करती है, यद्यपि एक ज्ञान है और उसका भी दर्शन में अपना स्थान है, परन्तु सर्वागंता से विरहित होने के कारण वह एक अज्ञान भी है। परमतत्व के सगुण और निर्गुण इन दोनों पक्षों में से यदि हम एक को स्वीकार और दूसरे को अस्वीकार तो हमारा यह एक पक्षीय दृष्टिकोण असंगत प्रतीत होता है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द कहते है कि ब्रह्म के सगुण और निर्गुण स्वरूप में से हम प्रथम को स्वीकार करते हैं तो परमतत्व के क्रियात्मक पक्ष का ग्रहण हो जायेगा, परन्तु निरपेक्ष की नित्य स्वरूप स्थिति और अनन्त शान्त निश्चलता का नहीं। उससे हम वंचित ही

---

1 वही पेज 302

रह जायेंगे और श्री अरविन्द के शब्दों में ''तब केवल क्रियात्मक सत्ता, केवल क्रियात्मक चेतना और आनन्द का अनुभव कर सकते है, परन्तु शुद्ध सत्ता, चेतना और शुद्ध आनन्द को खो देंगे। यदि ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का ही ग्रहण करते हैं तो अनन्त के क्रियात्मक रूप से और केवल यही नहीं, अपितु समस्त विश्व से वंचित हो जायेगा।'' अतः हमें सत्य की केवल एक दिशा पर बल देने और अनन्त की अन्य समस्त दिशाओं और पक्षों का बहिष्कार करके केवल उस एक दिशा से निष्कर्ष निकाल लेने या उसके आधार पर क्रिया करने की भूल नहीं करनी चाहिये।

परमतत्व का स्वरूप:

अरविन्द दर्शन की मुख्य विशेषता है उसकी सर्वग्राहिता की प्रवृत्ति। इस सर्वग्राही प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होने वाले विरोधों के परिहार के लिए अरविन्द ने अनन्त-तर्क की प्रस्थापना की, अर्थात् उसे बौद्धिक बनाने के लिए अतिबौद्धिकता को स्वीकार किया। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त में माया को अनिर्वचनीय मानकर परमतत्व की अशुद्धता के विषय में सम्भाव्य समस्त दोषों का निराकरण कर दिया गया उसी प्रकार अरविन्द वेदान्त भी अनन्त तर्क का प्रतिपादन कर परमतत्व के संबंध में साधारण बुद्धि द्वारा उठाये जाने वाले समस्त विरोधों और तर्कों का उच्छेदन कर दिया गया। अतः यह स्पष्ट है कि इस दर्शन में ब्रह्म के सविशेष, निर्विशेष,

सापेक्ष, निरपेक्ष, सगुण-निर्गुण आदि उभयविधि स्वरूपों को अनिवार्य रूप से स्वीकृत कर लिया गया। परमतत्व के उभयविधि रूपों की स्वीकृति पर अरविन्द ने सर्वत्र बल प्रदान किया। ''सविशेष और निर्विशेष, अनन्त और शान्त का सह अस्तित्व जो कि वैश्व सत का स्वभाव है, दो विरोधियों का निकट अवस्थान अथवा एक दूसरे का अन्तर-समावेश नही है, अपितु यह ऐसी स्वाभाविक अनिवार्यता है, जैसे सूर्य के साथ प्रकाश और उष्णता।[1]

शान्त निष्क्रिय तथा सक्रिय ब्रह्म कोई भिन्न विरोधी तथा असमाधेय सत्ताएँ नहीं हैं, जिनमें से एक तो जगत् प्रपंच को अस्वीकार करता है और दूसरा स्वीकार। ये एक ही सद्वस्तु के 'भावात्मक' और 'अभावात्मक' दो पक्ष हैं। और इनमें से प्रत्येक अन्य के लिए अनिवार्य और आवश्यक है।[2]

परमतत्व की अज्ञेयता:

''परमतत्व अनन्त, निरपेक्ष और निर्विशेष है। अतः वह शान्त और निर्वचन करने वाले मन बुद्धि के द्वारा अनिर्वचनीय और अचिन्त्य है। वह मानस निर्मित भाषा से अकथनीय है। उसका वर्णन नेति-नेति द्वारा भी सम्भव नहीं है। क्योंकि उसे हम यह कहकर सीमित नही कर सकते हैं

1. Sri Aurobindo - The Life Divine P-306
2 आधुनिक चिन्तन में वेदान्त-डॉ0 महेन्द्र शेखावत (पेज 17) 'मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल'.

कि वह न तो यह है न वह है। न तो उसका वर्णन स्वीकारोक्तियों से हो सकता है, क्योंकि ऐसा कहने से भी उसमें किसी विशिष्ट गुण या विशेष दोष द्वारा परिच्छिन्नत्व आ जायेगा।'' इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्म मन या बुद्धि की किसी भी अवस्था के द्वारा परिज्ञेय नही है।[1] वह हम से अभिन्न है, इस दृष्टि से वह स्वत: प्रमाणित है और ज्ञान की अतिमानसिक अवस्था द्वारा ज्ञेय है।

आत्म रूप ब्रह्म:

आत्मा ब्रह्म मूलभूत पक्ष है। यहाँ पर उसकी निर्वैयक्तिकता पर विशेष बल दिया गया है। वह सर्वव्यापी प्रत्येक पदार्थ में एक रूप, अनन्त शुद्ध और सर्वथा अस्पष्ट है।[2] आत्मा की शक्ति एक ऐसी शक्ति है जो स्वत: चालित होकर क्रिया करती है। आत्मा उसका आधार है। वह उसकी क्रियाओं का द्रष्टा, अवलम्बन और प्रवर्तक होता है, परन्तु क्षण भर के लिए भी उनमें लिप्त नहीं होता। यद्यपि आत्मा का व्यक्तित्व विशाल विश्वात्मकता का और विश्व में संक्रमणशीलता का है तथापि वह विश्वातीतता एवं अनिर्वाच्य निरपेक्षता से भी युक्त है।[3] आत्मा ब्रह्म का ऐसा पक्ष है, जिसके विषय में यह अनुभूत होता है कि वह एक साथ व्यक्ति, विश्व और विश्वातीत है।

---

1 The Life Divine - Sri Aurobindo - P 34
2 Ibid, P 295
3 Ibid, P 313

चित्-स्वरूप ब्रह्म-

ब्रह्म केवल सत् स्वरूप ही नहीं है, वह सत्तामात्र भी नहीं है, अपितु वह शक्ति से भी युक्त है। निरपेक्ष और निर्विशेष ब्रह्म एवं परिवर्तनशील गतिमान तथा बहुत्वमय जगत् दोनों में शक्तितत्व को अंगीकृत किये बिना सामंजस्य स्थापन सम्भव नहीं है। अतः स्थाणुत्वरूप शिव और गत्यात्मिकता काली दोनों को अनिवार्य रूप से अंगीकृत करना होगा।[1] सत् को शक्तिमान मानने पर ही जगत् की व्याख्या सम्भव हो सकेगी।

प्रश्न हो सकता है कि प्रशान्त और नीरव ब्रह्म में यह समस्त परिवर्तनों का आधार विजातीय एवं गतिमान शक्तितत्व क्यों और किस प्रकार स्थित रह सकता है। श्री अरविन्द ने इस शंका का समाधान करते हुए कहा है कि ''आत्मा और विश्व प्रकृति, शान्त निश्चल आत्मा ब्रह्म की सर्जन शक्ति कोई यथार्थ में दो विजातीय और पृथक तत्व नहीं है, अपितु द्वैक है, जिस प्रकार अग्नि और अग्नि की शक्ति पृथक नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म और उसकी चित् शक्ति भी पृथक नहीं है, (शिव और काली, ब्रह्म और शक्ति एक है) दो पृथक-पृथक तत्व नही है। सत् में अन्तर्निहित यह शक्ति विश्राम और गति दोनों अवस्थाओं में ब्रह्म का सत् रूप तीन प्रकार से अभिव्यक्त होता है उसी प्रकार ब्रह्म में स्थित रह सकती है।

---

1 The Lıfe Dıvıne - Srı Aurobındo - P-74

जिस प्रकार से ब्रह्म का रूप भी माया, प्रकृति और शक्ति इन तीन प्रकार से प्रकट होता है। ये तीनों ब्रह्म के आत्मा, पुरूष और ईश्वर रूपों से सम्बद्ध है।

चित्–शक्ति (Consciousness Force):

निरपेक्ष सत् को न तो वस्तुत: एक कहा जा सकता है और न अनेक, न इसे स्थिर कहा जा सकता है न गत्यात्मक । इस प्रकार की सभी कोटियाँ निरपेक्ष सत् को समझने के हमारे मानसिक प्रयत्न हैं, वह अपने में इन सभी कोटियों से परे है, फिर भी हमने यह भी देखा है कि जब हमांरी वैचारिक दृष्टि सत् के स्वरूप को पकड़ने की चेष्टा करती है यह एक परम अस्तित्व तथा असीम शक्ति प्रतीत होता है। अलंकारिक भाषा में बोलते हुए श्री अरविन्द ने सत् रूप और शक्तिरूप को शिव तथा काली के रूप में स्वीकारा है।[1]

अब दो प्रश्न उठते हैं- (क) 'शुद्ध सत्' तथा 'शक्ति' में सम्बन्ध क्या है? तथा (ख) इस शक्ति का स्वरूप क्या है? पहला प्रश्न इस कारण भी बड़ा अर्थपूर्ण है क्योंकि ऐसा नहीं कहा गया कि 'शक्ति' 'शुद्ध सत्' का साररूप है। यह सम्भव है कि हम सत् की कल्पना शक्ति से पृथक भी करें। यदि शक्ति 'शुद्ध सत्' का सारतत्व होता तो दोनों के

---

1. समकालीन भारतीय दर्शन- ''बसन्त कुमार लाल'' मोतीलाल बनारसी दास प्रकाशन-दिल्ली, पेज 207 से उद्धृत् ।

बीच सम्बन्ध का प्रश्न नहीं उठता। अतः मूल प्रश्न यह बन जाता है कि 'शक्ति' जो शुद्ध सत् से पृथक् है किस प्रकार शुद्ध-सत से सम्बन्धित हो जाती है? यदि श्री अरविन्द के वैचारिक व्यवस्था में 'शिव तथा काली दोनों के लिए स्थान बनाना है तो दोनों के सम्बन्ध का प्रश्न अर्थपूर्ण हो ही जाता है।[1] श्री अरविन्द का कहना है कि 'शक्ति' 'सत्' में निहित इस अर्थ में है कि दोनों के मध्य इस प्रकार का सम्बन्ध है कि एक को दूसरे से सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। यह सम्भव है कि हम 'सत्' के सम्बन्ध में 'शक्ति' से पृथक 'विचार' करें, विचार में इस प्रकार की पृथकता की जा सकती है, किन्तु वस्तुतः दोनों एक दूसरे से अलग रहते नहीं।

अब हम दूसरे प्रश्न पर विचार करें, इस शक्ति का स्वरूप क्या है? क्या यह शक्ति एक अचेतन शक्ति है। अबौद्धिक शक्ति है या एक चेतन शक्ति है? श्री अरविन्द बेहिचक कहते हैं कि इस 'शक्ति' को तो चेतन होना ही है इसे स्थापित करने के लिए श्री अरविन्द एक ओर तो यह भी निर्देश देते हैं कि शक्ति वस्तुतः चित रूप है, तथा दूसरी ओर यह भी दिखाते हैं कि चेतना शक्ति रूप है।

---

1 Sri Aurobindo - The Life divine P-72

श्री अरविन्द अस्तित्व के हर पक्ष, हर स्तर की परीक्षा करते हैं तथा स्पष्ट रूप में दिखाते हैं कि हर स्तर में गत्यात्मकता तथा गति का हर उदाहरण एक चेतना शक्ति को ही प्रतिस्थापित करता है। चित्र या चेतन शब्द को श्री अरविन्द मानवीय चेतन के अर्थ में नहीं समझते? श्री अरविन्द के चित्र शब्द का तात्पर्य बड़ा व्यापक है- मूलतः यह एक ऐसी शक्ति है जो अस्तित्व की स्वचेतन चेतना है। किन्तु यह विभिन्न रूपों में कारगर रही है। अतः इसे मानसिक चेतना से एक रूप करना उपयुक्त नहीं है। यह मानसिक चेतना के स्तर से नीचे उतर प्राणतत्व तथा भौतिक गति की चेतना भी हो सकती है, जो इसकी अवचेतन अवस्था है, वह मानसिक स्तर से ऊपर उठ सकती है तथा अतिमानस के स्तर तक भी पहुंच सकती है। वह उसकी अतिचेतन अवस्था है। इस प्रकार यह शक्ति विभिन्न रूपों में व्यक्त हो सकती है। अपने में यह एक मूल 'चित् शक्ति' है, जो अस्तित्व के विभिन्न स्तरों में कारगर है, श्री अरविन्द का कहना है कि भारतीय वैचारिक परम्परा में 'चित्' शब्द को ऐसे ही व्यापक अर्थ में समझा गया है।[1]

चित् शक्ति विचार में श्री अरविन्द एक बड़ा ही विचारोत्पादक विचार प्रस्तुत करते हैं, उनका कहना है कि यही शक्ति सृष्टि का मूलाधार

---

1 Sri Aurabindo - The Life Divine - P-83

है। इसी कारण सृष्टि का जनक होने के कारण इसे वे **श्री मां** कहते हैं। उनका कहना है कि यही ईश्वरीय शक्ति विश्व प्रक्रिया के पीछे है। इसी शक्ति के द्वारा सृष्टि का उद्‌भव है तथा सृष्टि के खेल चलते हैं।[1]

(2) श्री कृष्णचन्द्र भट्‌टाचार्य:

कृष्ण चन्द्र भट्‌टाचार्य का जन्म 12 मई 1875 ई0 को सेरामपुर, में हुआ था। उनका जन्म एक ऐसे ब्राह्मण परिवार में हुआ था जिसमें संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् थे। अतः यह स्वाभाविक था कि बचपन से ही उनकी अभिरूचि प्राचीन भारतीय ज्ञान की ओर जाग्रत हो जाय। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय स्कूल में हुई। किन्तु 1891 में मैट्रिक की परीक्षा पास कर लेने के बाद उन्हें प्रेसीडेन्सी कालेज में भेज दिया गया। वे बड़े ही कुशाग्र बुद्धि के थे। सभी परीक्षाओं में अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होते हुए उन्होंने 1901 ई0 में कलकत्ता वि0वि0 की पी0 आर0 एस0 की उपाधि भी अर्जित की। वे बंगाल शिक्षा सेवा में कार्यरत हुए, तथा बंगाल के विभिन्न महाविद्यालयों में व्याख्याता के रूप में कार्य करते रहे। बाद में वे कई विश्वविद्यालयों में प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष के पदों पर कार्य किये। उनकी दार्शनिक दृष्टि बड़ी सूक्ष्म थी, फलतः उनका लेखन कार्य बड़ी सावधानी से सम्पन्न होता था।[2]

---

1 वही पेज - 84.

2 समकालीन भारतीय दर्शन - बी0के0 लाल, पेज-273 से उद्‌धृत्।

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य को प्राचीन भारतीय विद्या का गहन अध्ययन था, विशेषत: उन्होंने अद्वैतवेदान्त, सांख्य, योग तथा जैन दर्शनों का विशेष अध्ययन किया था। पारम्परिक जर्मन दर्शन का विशेषत: काण्ट के दर्शन का उन्हें विशेष ज्ञान था। इस विशद अध्ययन की पृष्ठभूमि में उनकी पैनी दृष्टि संवरती रही। इस दृष्टि की मौलिकता एवं सर्जनात्मक शक्ति उन्हें सर्जनात्मक दार्शनिक रचनाओं की ओर प्रेरित करती रही। उनके लेखों के संकलन **'स्टडीज इन फिलासफी'** के सम्पादक कहते हैं कि कृष्ण चन्द्र की दार्शनिक चिन्तन की विधि सर्जनात्मक व्याख्या की है। रचनात्मक अर्थ निर्धारण की विधि है किन्तु यह तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि उनकी अपनी दार्शनिक दृष्टि इतनी सूक्ष्म है तथा उनकी व्याख्याएं इतनी मौलिक हैं कि बिना उनके अपने विचारों से परिचित हुए उनकी टीकाओं तथा व्याख्यों को भी समझना कठिन है।

वैसे उनके दर्शन पर किसी प्रचलित ढाँचे के अनुरूप कोई लेबल चिपका देना सरल नहीं है। उनके दर्शन को किसी प्रचलित तात्विक सिद्धान्त के अन्तर्गत रख देना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। वैसे उनके दार्शनिक विचारों को किसी **'लेबल'** के द्वारा समझने का प्रयास करने पर निकटतम विवरण यही प्रतीत होता है कि उसे 'परात्ममूलक अध्यात्मवाद (Transcendental Idealism) कहा जा सकता है। यह आध्यात्मवाद है, प्रत्ययवाद नहीं, क्योंकि

सत् को प्रत्ययरूप या भावरूप नहीं बताता। इसे एक अर्थ में आदर्शवाद कह सकते हैं, क्योंकि सत् आत्मानुभूति की प्रक्रिया का चरम लक्ष्य है। उनके दर्शन को परमात्ममूलक इस आधार पर कहा जा रहा है कि सत् के स्वरूप का विवरण किसी प्रचलित दार्शनिक अवधारणा के आधार पर नहीं किया जा सकता।[1]

कृष्णचन्द्र हर तत्व को अनुभूति से सम्बन्धित कर देते हैं, तथा सत् अनुभूति की चरम पूर्वमान्यता के रूप में सोचा गया है। इसे न विषयनिष्ठ कहा जा सकता है न आत्मनिष्ठ। उनकी मान्यता है कि 'विषयी' एवं 'विषय' को सम्बन्धित करने का आधार न विषय रूप हो सकता है न विषयी रूप। इसी कारण उनके विचार में परमसत् विषयी-विषय अथवा विषयानिष्ठता-आत्मनिष्ठता आदि के द्वैत से ऊपर है। इसी कारण उनके दर्शन को परमात्ममूलक (Transcendental) कहा जा रहा है। वैसे उनके दर्शन को एक दृष्टि से अमूर्त आध्यात्मवाद का एक विशिष्ट रूप भी कहा जा सकता है। यद्यपि उनका यह अमूर्त आध्यात्मवाद स्पिनोजा एवं अद्वैत वेदान्त दोनों से भिन्न प्रतीत होता है, क्योंकि उनका सत् विचार न स्पिनोजा के परमतत्व विचार जैसा है और न अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म जैसा। फिर भी उनके अनुसार भी परमसत् का स्वरूप पूर्णतया अमूर्त है।

---

1 समकालीन भारतीय दर्शन - बी0के0 पेज 275.

दर्शन की अवधारणा:

सामान्यत: यह माना जाता रहा है कि दर्शन एक विश्व दृष्टि देता है। भारत में दर्शन की व्यावहारिक उपयोगिता बतायी गयी है। इसे एक प्रकार से धार्मिक एवं तात्विक लक्ष्य की प्राप्ति के साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसका लक्ष्य है मानव को दु:ख के बन्धन से मुक्त कराना। इस लक्ष्य की प्राप्ति का उपकरण यथार्थ ज्ञान है, और ज्ञान वही यथार्थ कहा गया है जिसके द्वारा सत्-असत् का भेद स्पष्ट हो। इसका अर्थ है कि भारतीय परम्परा में भी दर्शन एक विश्व दृष्टि देता है। दर्शन का अर्थ ही 'दृष्टि' बताया गया है। दर्शन का कार्य जगत् के स्वरूप को समझना है, जिसमें अन्तत: वह वास्तविक एवं अवास्तविक के अन्तर को स्पष्ट रूप में जान लें।

किन्तु कृष्णचन्द्र दर्शन के स्वरूप-सम्बन्धी इस विचार से सहमत नहीं है। इस विषय पर उनके विचार कांट के विचारों से कुछ मिलते हैं, तथा एक अर्थ में तार्किक भाववादी विचार के समान हैं। इन विचारों के समान भट्टाचार्य का भी कहना है कि दर्शन का कार्य विश्व दृष्टि की संरचना नही है। उनका कहना है कि दर्शन के निर्णय तथ्यात्मक होते ही नहीं। उनका सम्बन्ध 'तथ्यों' से है ही नहीं, वे आनुभविक निर्णय नही है, अत: उनका दावा भी नही रहता कि वे तथ्य निर्देश कर रहे हैं। तव प्रश्न

उठता है कि दर्शन के निर्णय किस प्रकार के हैं–उनसे क्या कार्य सम्पादित होता है? इस प्रकार के उत्तर में कृष्ण चन्द्र अपने **'सैद्धान्तिक चेतना'** का विचार प्रतिपादित करते हैं।

सैद्धान्तिक चेतना (Theoretic Consciousness):

कृष्ण चन्द्र स्वीकारते हैं कि विज्ञान के निर्णयों का सम्बन्ध तथ्यों से होता है। उनके अनुसार विज्ञान तथा दर्शन दोनों सैद्धान्तिक चेतना की अभिव्यक्तियाँ हैं। इन दोनों के निर्णयों के सम्बन्ध कम से कम इतना तो कहा ही जा सकता है-वे 'कथनीय' है अथवा व्यवस्थित एवं अर्थपूर्ण ढंग से 'सन्देश वाहन' करते ही हैं। यह जो इन दोनों का न्यूनतम लक्षण है, वह इसी कारण है कि वे दोनों 'सैद्धान्तिक चेतना' के ही रूप हैं।[1]

तो 'सैद्धान्तिक चेतना' क्या है? कृष्ण चन्द्र इसे सैद्धान्तिक कहते हैं, क्योंकि एक तो इसका विचार इसके सम्भव व्यक्त रूपों से अलग होकर किया जाता है और दूसरे इस कारण कि इसके निर्णयों के अन्तर्वस्तु में अर्थनिरूपण नहीं होता, उन्हें मान लिया जाता है, उन पर विश्वास कर लिया जाता है। इन निर्णयों में जो सन्देश मिलता है वह अर्थपूर्ण तो नहीं होता, किन्तु वे विश्वास योग्य होते हैं। यह 'सैद्धान्तिक चेतना' का न्यूनतम लक्षण है, और इसी कारण इसका मूल लक्षण है। इस न्यूनतम लक्षण को

---

1 K C Bhattacharya - Studies in Philosophy Vol II P-98

परिभाषित करते हुए कृष्णचन्द्र कहते हैं कि 'सैद्धान्तिक चेतना' कम से कम कथनीय का अववोध है। इस न्यूनतम स्तर पर जो कथनीय है वह कोई अर्थ निर्देश नहीं करता, केवल उस पर विश्वास कर लेता है। विश्वास कर लेने का आधार है कि जो कहा जाता है, जो कथनीय है, वह तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक उसमें प्रारम्भिक विश्वास न हो।

इन गहन विचारों की व्याख्या एवं स्पष्टीकरण अनिवार्य है। हम इसे एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करेंगे, इस उदाहरण का उपयोग कृष्णचन्द्र ने स्वयं किया है, हम वर्गाकार वृत्त का उदाहरण लें। मान लें हम उच्चारण करते हैं "वर्गाकार वृत्त" किन्तु सचमुच देखा जाय तो हमने उच्चारण अवश्य किया किन्तु कुछ कहा नही है। इसमें यदि पूछा जाय कि क्या कहा गया कोई उत्तर नहीं बन पड़ेगा। ऐसा इस कारण होता है कि इन शब्दों के उच्चारण में वस्तुत: हम कुछ विश्वास नहीं कर रहे हैं। यह उच्चारित होते हुए भी कथनीय नहीं है, क्योंकि इसमें विश्वास योग्यता नहीं है। अत: यह हमारी सैद्धान्तिक चेतना का अंश नहीं है। केवल वही हमारी सैद्धांतिक चेतना का अंश हो सकता है, जो वास्तविक अर्थ में कथनीय हो और जो कथनीय है उसके अन्तर्वस्तु में विश्वास रहता है-उसमें विश्वास योग्यता होती है।[1]

---

1 समकालीन भारतीय दर्शन-बी0के0 लाल, पेज - 267.

यह 'सैद्धान्तिक चेतना' का न्यूनतम लक्षण है। उदाहरणतः असत्य भी सैद्धान्तिक चेतना का अंश हो सकता है। अब कुछ 'असत्य' कहा जाता है तो उसमें भी कुछ ऐसा है जिस पर विश्वास किया जाता है। जब यह कहा जाता है तो उसमें एक प्रकार संकेत निहित है कि 'हमें मान लो, 'हम पर विश्वास करो।' इस प्रकार जो कहा गया- जो 'कथ्य' हो गया उसी का अवबोध 'सैद्धान्तिकचेतना का अंश है।

यह चेतना ज्ञान नहीं है, हलांकि इसमें एक ऐसे विश्वास की ओर संकेत रहता है कि एक ज्ञान की सम्भावना प्रकट हो रही है। 'ज्ञान' किसी वास्तविक या सम्भावित वस्तुस्थिति की स्पष्ट अवगति है। सैद्धान्तिक चेतना में जो अवगति है, वह स्पष्ट नहीं, इस पर विश्वास कर लिया जाता है, किन्तु इस विश्वास में ही यह संकेत है कि इस चेतना में कोई वस्तुस्थिति ज्ञात नहीं हुई, इसी कारण कृष्णचन्द्र कहते हैं कि 'सैद्धान्तिक चेतना' में अवगति है, अवबोध है, किन्तु स्पष्ट ज्ञान नहीं है। इसी आधार पर कहा गया है कि सैद्धान्तिक चेतना का न्यूनतम और इसलिए मूल लक्षण यही है कि यह जो कहने योग्य ह, जो कथनीय है, उसका अवबोध है।

सैद्धान्तिक चेतना के चार स्तर -

इस प्रकार सैद्धान्तिक चेतना का हर रूप बोधात्मक होने के कारण 'विचार' के अंग अवश्य है क्योंकि अवबोध भी विचार का ही रूप है।

भट्टाचार्य कहते हैं कि विचार के चार रूप हो सकते हैं, जिसमें एक तो तथ्यात्मक अथवा शाब्दिक विचार है, तथा अन्य तीन प्रतीकात्मक विचार है। उनके अनुसार तथ्यात्मक विचार वस्तुतः विचार नही है, शुद्ध विचार नहीं है। किन्तु उसे साथ लेने पर विचार के चार रूप वन जाते हैं। सैद्धान्तिक चेतना विचार तो है ही, अतः इसके चार रूप हैं। कृष्णचन्द्र ने इनके चार रूपों में स्तरीय भेद किया है, अतः वे सैद्धान्तिक चेतना के चार स्तरों की बात करते हैं।[1]

(क) आनुभविक स्तर

आनुभाविक चेतना का निर्देश सदैव विषय की ओर होता है। यह निर्देश ऊपरी निर्देश या आकस्मिक निर्देश होता है; बल्कि इसी निर्देश में वह चेतना अर्थवान होती है। यह विषय की अर्न्तवस्तु की ऐसी अवगति है जिसका या तो प्रत्यक्ष हुआ है या लगा है कि प्रत्यक्ष हुआ है, किन्तु विषय का यह निर्देश ही उस चेतना का अर्थ है। यहां विषय का अवबोध एक तथ्य के रूप में होता है। इस चेतना के विषय, जो विषय तथ्यरूप है, की अवगति या अववोध के लिये 'विचार करने' की आवश्यकता नहीं, इन्द्रिय-प्रदत्ता में ही इसकी अवगति है।

---

1 K C Bhattacharya&Studies in Rhilosophy Vol II P -101

(ख) विषय निष्ठा स्तर-

यहां भी चेतना विषयानिष्ठ है। उस चेतना तथा आनुभाविक चेतना-दोनों के विषय निष्ठ होने पर भी दोनों मे कुछ अन्तर है। आनुभाविक चेतना में तथ्य की अवगति इन्द्रिय प्रदत्ता से होती है। विचार से नहीं । किन्तु शुद्ध विषयनिष्ठता के स्तर पर यह इन्द्रिय प्रदत्ता चेतना के विषय की अवगति का अंश नहीं है। इसके अतिरिक्त दोनों में एक अन्तर और है। आनुभाविक चेतना में 'विषयी' या 'आत्म' के निर्देश की आवश्यकता नही होती है। शुद्ध वस्तुनिष्ठ-चेतना में, विषय की चेतना में विषय आत्म से सम्बन्धित हो स्पष्ट होती है। इसी अन्तर का परिणाम है कि आनुभाविक चेतना में 'विषय' का 'तथ्य' के रूप में अवबोध होता है, जबकि शुद्ध विषय निष्ठा चेतना में 'विषय' तथ्य के रूप में ज्ञात नहीं होता-बल्कि 'आत्म-अवस्थिति' विषयनिष्ठता के रूप में जाना जाता है, 'आत्मअवस्थिति विषयनिष्ठता तथ्य नहीं है- यह कोई 'वस्तु' नही है। आनुभाविक चेतना में 'तथ्यात्मक वस्तु की अवगति होती हे, किन्तु यहां मात्र यह अवगति है कि 'विषयी' से पृथक कुछ 'विषय' है। इसी कारण कृष्ण चन्द्र कहते हैं कि यह चेतना किसी विषयानिष्ठ तथ्य के चेतना नही, बल्कि मात्र विषयनिष्ठ अभिवृत्ति में चेतना है।[1]

---

1 K C Bhattacharya-Studies in Philosophy Vol-II P-102

(ग) विषयीपरक अथवा आत्मनिष्ठ चेतना –

कृष्ण चन्द्र के अनुसार इस चेतना में 'विषय' की ओर कोई निर्देश नहीं होता। इस चेतना में निहित कोई ऐसी विषयवस्तु नहीं जिसका अवबोध शुद्ध विषयनिष्ठ ढंग से होता है। यहाँ चेतना के विषयवस्तु की अवगति आत्मनिष्ठता की अभिवृत्ति में होती है। कृष्णचन्द्र कहते हैं कि इस चेतना को उपयोगी चेतना कहा जा सकता है। क्योंकि ' यहां चेतना एक प्रकार से आत्मरूप में ही केन्द्रित है। 'विषय की ओर उन्मुख नहीं। पहले के दोनों स्तर में चेतना की विषय-वस्तु अपेक्षित है- आत्म से –'पृथक' 'विषय' के देखने पर आधृत है। कृष्णचन्द्र इसके लिए 'Contemplated' शब्द का व्यवहार करते हैं। इसी कारण विषय प्रथम स्तर में 'तथ्य' के रूप में जाना जाता है, तथा दूसरे स्तर में एक ऐसे 'विषय' के रूप में जो आत्म से सम्बन्धित है। किन्तु अध्यात्मिक या आत्मगत चेतना मे आत्म 'विषय' को भोगता है, उसका आन्नद लेता है। क्योंकि यहां चेतना आत्मकेन्द्रित है।

(घ) परात्ममूलक चेतना –

सैद्धान्तिक चेतना का चतुर्थ स्तर 'परात्ममूलक चेतना है। इस चेतना का निर्देश न 'विषय' की ओर है, ओर न आत्म की ओर। यह चेतना इस भेद से ऊपर उठ जाती है, अत: इस चेतना की विषयवस्तु न 'आत्म' है

न विषय, बल्कि जैसा कि भट्टाचार्य कहते हैं कि इस चेतना की अन्तर्वस्तु है सत्य।

प्रथमत: इस मूल विचार को प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि कृष्ण चन्द्र के अनुसार दार्शनिक चिन्तन का सम्बन्ध प्रथमस्तर आनुभाविक चेतना से नहीं है, दर्शन सैद्धान्तिक चेतना के अन्तिम तीनों स्तरों से सम्बन्धित है। कृष्ण चन्द्र आनुभाविक चेतना को 'शाब्दिक विचार' या 'तथ्यात्मक विचार' कहते हैं।[1]

इस चेतना का सम्बन्ध तथ्यों से होता है। इसी कारण इस चेतना का सम्बन्ध 'विज्ञान' से है। इसके विपरीत अन्य तीनों स्तर की चेतना विषयनिष्ठ, आत्मगत एवं परात्मचेतना का सम्बन्ध तथ्यों से नहीं होता, बल्कि शुद्ध विचार से होता है। अत: कृष्ण चन्द्र के अनुसाद इन तीनों स्तर की चेतनाओं का सम्बन्ध 'दर्शन' से है। इस बात से एक रोचक बात प्रकाश में आती हे यदि पहले स्तर की चेतना का अन्तर या भेद अन्य तीनों स्तरों की चेतना से करें, तो उस भेद में ही 'विज्ञान' तथा 'दर्शन का भेद स्पष्ट हो जाता है।

तो आनुभविक चेतना पर आश्रित विचार का तथ्यों से होता है, ओर इस कारण यह विज्ञान का विषयवस्तु है। इसका निर्देश, तथ्य रूपी विषयों

---

1 K C Bhattacharya-Studies in Philosophy Vol-II P-103

से है, अतः इसी कारण इसे 'तथ्यात्मक विचार' या शाब्दिक विचार कहा गया है। इस विचार की विशिष्टता है कि तथ्यों के विषय में कुछ जानकारी, कुछ सूचना देती है। इसे इस रूप में भी कहा जा सकता है कि शुद्ध शाब्दिक निर्णयों में उद्देश्य तथा विधेय का सम्बन्ध इस प्रकार व्यक्त होता है कि उससे कोई सूचना मिले। इस प्रकार के निर्णय सम्बन्ध सूचक होते हैं ओर इसी कारण सूचना दे पाते हैं।

आत्म का दर्शन–

कृष्ण चन्द्र द्वारा दिये गये 'आत्म के दर्शन' का स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट तभी होगा जब हम उनके 'आत्मपरकता' की अवधारणा की विवेचना करेंगे। किन्तु सैद्धान्तिक चेतना तथा दर्शन की अवधारणा के सन्दर्भ में इसका कुछ प्रारम्भिक विवेचन आवश्यक है। तत्वदर्शन आत्म से सम्बन्धित विषय के शुद्ध वैचारिक रूपों को स्पष्ट करता है। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि कोई तात्विक अवधारणा तब तक स्पष्ट नही हो सकती जब तक उसे आत्म के सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में न देखा जाय।[1]

विषय दर्शन की एक शाखा-तर्कशास्त्र 'शुद्ध रूपों' की खोज करता है, ये शुद्ध रूप शुद्ध 'शुद्ध विषयों' के रूप हैं। 'शुद्ध विषय' विषय दर्शन की दूसरी शाखा तत्वदर्शन के विषयवस्तु हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा

---

1 समकालीन भारतीय दर्शन -बी0के0 लाल पेज-282

सकता है कि तर्कशास्त्रीय क्रियाएं प्रतीकात्मक हैं, उनके रूप प्रतीक हैं जो सूचित करते है तात्विक विषयों को।

अब प्रश्न उठता है कि तात्विक विषय क्या सूचित कर रहे हैं? वे तथ्यों को तो सूचित करते नहीं। कृष्ण चन्द्र कहतें कि उनसे कुछ ऐसा ही सूचित हो सकता है जिसकी आन्तरिक अनुभूति उनमें विश्वास का अधार है वह कुछ ऐसा ही हो सकता है जिसमें विश्वास करने का आधार मात्र यही है कि उसे भोगा जा रहा हे। इस उपयोगी अवबोध का क्या तात्पर्य है? इसका तात्पर्य है कि यह अवबोध 'विषय' को दूर रख कर नहीं होता, बल्कि उसे आत्मसात कर उसे अनुभूत कर होता है। यहॉं विषय की पृथकता ही समाप्त हो जाती है, वह आत्म का अंग बन जाता है। इस प्रकार का ज्ञान जिसका अवबोध भोग कर अनुभूत कर या आत्मसात कर होता है, 'आत्म के दर्शन' की विषय वस्तु है।[1]

कृष्ण चन्द्र का कहना है कि इस प्रकार की चेतना का केन्द्र "मैं" हैं और इसी कारण वे आत्म के उपयोगी चेतना को अन्तर्निरीक्षण कहते हैं। उनकी मान्यता है कि सबसे अन्तर्निरीक्षण का उनके दर्शन में एक विशेष प्रयोग है। अन्तर्निरीक्षण का विषय शरीर या शारीरिक क्रिया ही नहीं है-क्योंकि इनका रूप तथ्यात्मक है। अर्न्तर्निरीक्षण का विषय मानसिक या

---

1 K C Bhattacharya-Studies in Philosophy Vol-II P-125

बैचारिक क्रियाएँ भी नही है; क्योंकि उनकी विषयपरकता अभी समाप्त नहीं हुई है। अर्न्तनिरीक्षण का केन्द्र मात्र 'मैं' है। इस अर्न्तनिरीक्षण में 'विषय' से या 'विषयपरकता' से सम्बन्ध पूर्णतया टूट जाता है। यह ऐसा आत्म केन्द्रन है जिसके अवबोध में विषय-मान सर्वथा नही है।

अतः कहा जा सकता है कि आत्म का दर्शन आत्मपरकता की अभिवृत्ति में आत्मकेन्द्रियता की स्थिति में अवबोध का दर्शन है। अतः ऐसी सभी अनूभूतियाँ जो इस प्रकार की शुद्ध आत्मपरक अवस्थिति के अनुभूतियाँ हैं आत्म के दर्शन की विषय वस्तु हैं। आत्म दर्शन का केन्द्र इस अर्थ में अन्तर्निरीक्षण है।

(3) डॉ0 सर्व पल्ली राधाकृष्णन-

राधाकृष्ण का जन्म मद्रास से चालीस मील दूर उत्तर-पश्चिम की ओर स्थित तीरटनी नामक एक छोटे से कस्बे में 5 सितम्बर 1888 को हुआ था। उनका प्रारम्भिक जीवन तीरूटनी तथा तीरूपटी में व्यतीत हुआ। ये दोनो स्थान तीर्थस्थल के रूप में प्रसिद्ध थे। शायद इसी प्रारम्भिक प्रभाव के फलस्वरूप उनकी अभिरूचि धर्म के प्रति बढ़ी। वे स्वयं स्वीकारते हैं कि उसी समय से उनके मन में अदृश्य जगत की वास्तविकता के प्रति एक दृढ़ विश्वास उत्पन्न हुआ। जो विश्वास सदैव उनकी आस्था का अंग बना रहा । उनकी स्कूल तथा कालेज की शिक्षा ईसाई मिशन की संस्थाओं में

हुई। इस अवधि में वे ईसाई धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों से परिचित हो गये और साथ-साथ उन्हें यह भी जानकारी मिल गयी कि ईसाई मत के समर्थक किन स्थलों पर हिन्दू मत की आलोचना करते हैं। इस प्रभाव में उन्हें हिन्दू-दर्शन तथा धर्म ग्रन्थों का विशद एवं गहन अध्ययन किया। अचेतन रूप मे उनके मन में हिन्दू मत के विवेकानन्द जैसे प्रबल प्रतिपादकों के लिए बड़ा आदर उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उनकी धार्मिक प्रवृत्तियाँ इन विभिन्न प्रभावों के फलस्वरूप संवरती चली गयीं। इस प्रकृति का अभिव्यक्ति के रूप में उनका लेखन कार्य 20 वर्ष की उम्र से ही प्रारम्भ हो गया। 1908 में उनकी पहली पुस्तक Ethics of the vedanta प्रकाशित हुई।

धीरे-धीरे उनका यश दर्शन एवं शिक्षण के क्षेत्र में फैलता गया, और उन्हें एक के बाद एक प्रतिष्ठित पदों को सम्हालने का अवसर मिलता रहा। वे प्रोफेसर के बाद वाइसचांसलर बने। उन्होंने भारत के प्रमुख राजदूत के रूप में कार्य किया। भारत के प्रथम राष्ट्रपति के साथ ये भारत के उपराष्ट्रपति रहे और अंत में भारत के सर्वोच्च पद 'राष्ट्रपति' को सुशोभित किये। उनकी विशिष्टता यह थी कि इन पदों पर रहते हुए भी उन्होंने दार्शनिक सर्जनात्मकता एवं लेखन के कार्य को भी आगे बढ़ाया।[1]

---

1 समकालीन भारतीय दर्शन-बी0के0लाल पेज-313 से उद्धृत।

दर्शन का स्वरूप-

राधाकृष्ण की विलक्षणता इस बात में थी कि उन्हें भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों विचारों की पूरी जानकारी थी। वे इन दोनों विचारों के समन्वय का प्रयास किये। फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि उनकी बौद्धिक मान्यताओं के जड़ें भारतीय परम्परा में ही पनपी हैं। उनके अपने दार्शनिक विचारों की मूल अवधारणाएं सामान्यत: भारतीय दर्शनों से तथा प्रधानत: वेदान्त से ली हुई है। किन्तु उनकी विशेषता यह रही कि भारतीय विचारों को भी स्पष्टरूप में पाश्चात्य विचारों के माडलों एवं भाषीय ढंगों में व्यक्त किया।

जोड ने राधाकृष्णन की दार्शनिक दृष्टि का विवरण करते हुए कहा है कि राधाकृष्णन को एक प्रकार से पूर्व तथा पश्चिम के बीच का 'सम्पर्क अधिकारी कहा जा सकता है। उन्होंने पूर्व के पारम्परिक ज्ञान तथा पश्चिम के नवीन ज्ञान के मध्य एक सेतु बनाया है।[1] इस विवरण में तथ्य है क्योंकि राधाकृष्णन का सतत प्रयत्न रहा है कि वे इन दोनों विचारों के समन्वय के आधार पर दार्शनिक संरचना करें।

अत: कहा जा सकता है कि उनकी मूल दार्शनिक दृष्टि में एक प्रकार से अद्वैत वेदान्त तथा पाश्चात्य निरपेक्ष आध्यात्मवाद का समन्वय है।

---

1 C E M Jood, Counterattacks From the East, P-38

वे अद्वैत वेदान्त में प्रतिपादित सत् के मूल अद्वैत ऐक्य को केन्द्र बनाते हैं। निरपेक्ष आध्यात्मवाद के कुछ पक्षों को जोड़ देते हैं। वेदान्त के समान वे भी कहते हैं कि सत् एक हैं। निरपेक्ष आध्यात्मवाद के समान वे यह भी दिखाते हैं कि सब कुछ इस एक के अनिवार्य पक्ष है पहलू है। उनके विचारों के इस समन्वयात्मक रूप के कारण उनके विचारों पर प्रचलित नामों का कोई लेबल चिपकाना कठिन प्रतीत होता है।

परम् सत् का स्वरूप

राधाकृष्णन का कहना है कि दार्शनिक अन्वेषण का मूल लक्ष्य जगत की व्याख्या प्रस्तुत करना है। जिस मूल 'तत्व' के आधार पर जगत की व्याख्या होती है उसे ही 'परमसत्' कहा जाता है, क्योंकि हर वास्तविक सत् तत्वों की व्याख्या का आधार वही है। इस प्रकार 'परमसत्' का विचार इस ढंग से रूप लेता है कि उस विचार में जगत सम्बन्धी क्यों तथा कैसे प्रश्नों का समुचित समाधान मिल जाय।

अपने परमसत्-विचार को राधाकृष्णन वेदान्त के विचारों का समुचित उपयोग करते हैं। वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म की परमसत् है जो जगत का पूर्ण ब्रह्मण्ड का तार्किक आधार हे। बस्तुतः वेदान्त की मान्यता है कि ब्रह्म को सिद्ध करने का अथवा ब्रह्म की सत्ता स्थापित करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो हर विचार की पूर्वमान्यता है, क्योंकि यदि इसे नहीं

स्वीकारा जाय तो विचार ही सम्भव नहीं होगा। राधाकृष्णन भी कुछ वेदान्त के समान परमसत् को ब्रह्म अथवा निरपेक्ष सत् (Absolute) कहते हैं और हर वास्तविक एवं अस्तित्वान् तत्व का तार्किक आधार मानते हैं।

निरपेक्ष सत् या ब्रह्म

राधाकृष्णन इस परमसत् को सूचित करने के लिए दोनों 'नामों का उपयोग करते हैं। पाश्चात्य परम्परा के अनुरूप वे इसे 'निरपेक्ष सत्' कहते हैं तथा भारतीय परम्परा के अनुरूप इसे ब्रह्म कहते हैं किन्तु नामों का उपयोग आकस्मिक नहीं है। उनके इस ब्रह्म विचार में कुछ अंश तो अद्वैत वेदान्त के हैं, तथा कुछ अंश हेगेल तथा हेगेल-परम्परा से भी लिए हुए हैं। अद्वैत वेदान्त के समान वे भी ब्रह्म को पूर्ण अद्वैत 'एक' मानते हैं, ओर हेगेल के समान वे यह भी मानते हैं कि यह एक पूर्ण अमूर्त भाव नहीं है, और न अमूर्तिकरण की प्रकिया से प्राप्त भाव है, बल्कि सब कुछ का वास्तविक आधार है।[1]

शुद्ध चेतना (Pure Consciousness))

राधाकृष्णन निरपेक्ष सत् को 'शुद्ध' चेतना; शुद्ध स्वतन्त्रता तथा अनन्त सम्भावना कहते हैं। इनमें प्रथम दो लक्षणों का विवरण अद्वैत वेदान्त के समान है, तथा तीसरे लक्षण के विवरण में राधाकृष्णन हेगेल के समान

---

1 Radhakrishna-The Reign of Religion in Contenporary Philosophy, P-143

विवरण प्रस्तुत करते हैं। 'निरपेक्ष' को 'शुद्ध चेतना' कहा गया है, क्योंकि चेतना ही ऐसा तत्व है जो अमिट है, जिसका पूर्ण निषेध सम्भव नही है। हम अस्तित्व के किसी ऐसे आयाम की कल्पना भी नहीं कर सकते जहाँ चेतना न रहे। निरपेक्ष को 'अनन्त सम्भावना' इस आधार पर कहा गया है कि इसकी अभिव्यक्ति अनन्त जगत् में हो सकती है। यह जगत अनन्त सम्भावनाओं में एक है। इसे 'शुद्ध स्वतन्त्रता' कहा गया है, क्योंकि जब भी इसकी कोई सम्भावना रूप लेती है व्यक्त होती है तो वह निर्धारक तत्व से निर्धारित होकर नही, बल्कि वह एक स्वतंत्र क्रिया है। यह भी कोई मजबूरी नहीं कि यही जगत व्यक्त हो। किसी विशेष सम्भावना की अभिव्यक्ति हो, या अन्य किसी सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति न हो-यह सब निरपेक्ष की स्वतंत्रता के रूप हैं। उनके सम्बन्ध में निर्धारक तत्वों की खोज का प्रश्न ही नहीं उठता।

वस्तुतः राधाकृष्णन को लगता है कि विश्व में अस्तित्व की विधायें हैं, जो व्यवस्था प्रयोजन विकास के ढंग आदि हैं, उनकी व्याख्या के लिए उन सब के पीछे कोई मूल 'तात्विक आधार' का होना अनिवार्य है, अन्यथा इनकी व्यापकता की कोई सार्वभौम व्याख्या सम्भव ही नहीं होगी, और यह तात्विक आधार 'निरपेक्ष' के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। यह

प्रश्न तो उठता ही है कि आखिर अस्तित्व है ही कैसे। यदि सब कुछ लुप्त हो जाय, समाप्त हो जाय तो शून्यता के अतिरिक्त कुछ बचता नहीं।

तो अस्तित्व का आरम्भ कैसे हुआ, जब कुछ नहीं था तो मात्र शून्यता थी, तो शून्यता से अस्तित्व का विकास कैसे हुआ। इसका अर्थ है कि उस स्थिति में भी-शून्यता की स्थिति में ही अस्तित्व के उद्‌भव का कुछ आधार निहित है। शायद यही कारण है कि अस्तित्व के हर रूप अपूर्ण है, अस्थायी है। जो अस्तित्वववान हैं उसकी अस्तितवहीनता भी सम्भव है, और जो अस्थायी है, कालिक हैं, वह अपने में बिना किसी सहारे के रह नहीं सकता और इस प्रकार भी यह स्पष्ट होता है कि अस्तित्व के हर रूप, तथा हर ढंग पर विचार करने पर हमें 'अस्तित्व' से परे जाना ही पड़ता है। इसके पीछे परमसत् की प्राथमिकता को स्वीकारना ही पड़ता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जगत का अस्तित्व भी उस परमसत् के पक्ष में एक साक्ष्य है, परमसत् हर अस्तित्व का मूलाधार है, और इसी कारण राधाकृष्णन इस निरपेक्ष परमसत् को जगत का तार्किक आधार इसकी तार्किक मान्यता कहते हैं।

आत्म चेतना-

आत्मरूप या 'आध्यात्मिक' से जो बोध होता है वह आनुभाविक स्तर में उच्चतर कुछ हैं। यह 'उच्चतर लेने' का ढंग क्या हो सकता है? एक ढंग तो स्पष्ट है। आनुभाविक क्षेत्र में अनिवार्यत: ज्ञाता अथवा ज्ञेय, विषयी और विषय का अन्तर किया जाता है। तो इससे उच्चतर क्षेत्र यह हो सकता है जहाँ यह भेद मिट जाय। जीवन में कम से कम ऐसा उदाहरण है जहाँ। यह भेद मिट जाता है।

तो राधाकृष्णन को आध्यात्मिकता के अवबोध के लिये 'आत्म-चेतना' के उदाहरण में स्पष्ट संकेत मिलता है। उनका कहना है कि आध्यात्मिकता का स्वरूप आत्मचेतना के स्वरूप के अनुरूप स्पष्ट हो सकता है।

'आत्म चेतना' के सम्बन्ध में ही एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य विचार में आता है। राधाकृष्णन कहते हैं कि मनुष्य के संदर्भ में तो यह कहा जा सकता है कि 'आत्मचेतना' ही वह डोर हैं, धागा है, जो व्यक्ति के जीवन के विभिन्न क्षणों को तथा उसकी विभिन्न अनुभूतियों को एक सूत्र में बांध कर रख पाता है। व्यक्ति को हर क्षण विभिन्न अनुभूतियां होती रहती है, वह हर क्षण परिवर्तित होता रहता है किन्तु उसे सदा यह चेतना भी रहती है कि इन परिवर्तनों के बाद भी वह वही व्यक्ति है। उसकी आत्म-चेतना उसके जीवन के इन विभिन्न क्षणों को एक सूत्र में बाँधे रहता है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति की वैयक्तिकता उसकी विशिष्टता का मूलाधार उसकी आत्म चेतना ही है।

अध्याय-8

उपसंहार

उपसंहार

अद्धैतवेदान्त की परम्परा से यह स्पष्ट है कि चैतन्य तत्व को सभी अद्वैतियों ने एक मात्र सत्ता के रूप में स्वीकार किया और उसे 'ब्रह्म' संज्ञा से अभिहित किया। चाहे वह अवच्छेदवाद हो, चाहे प्रतिबिम्बवाद हो अथवा आभासवाद ही हो, ब्रह्म की सर्वोच्चता के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है। अधिकांश अद्वैतियों ने ब्रह्म के अर्थ में ही 'ईश्वर' पद का प्रयोग किया है। ईश्वर और ब्रह्म के मध्य अनन्यता का खण्डन करने वाले केवल प्रतिबिम्बवादी ही हैं। किन्तु सभी प्रतिबिम्बवादी ब्रह्मेश्वर-भेद के प्रतिपादक नहीं हैं, वरन् केवल तीन प्रतिबिम्बवादी आचार्य सर्वज्ञात्मा, विद्यारण्य तथा प्रकटार्थ-विवरणकार-ही माया में चैतन्य के प्रतिबिम्ब को 'ईश्वर' मानते हैं। यही तीन आचार्य हैं जिनके सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर कल्पित सिद्ध होता है। अन्य अद्वैतियों के मतानुसार ईश्वर नित्य, निर्गुण निरूपाधिक ब्रह्म ही है।

अद्वैत वेदान्त दार्शनिकों ने मूलभूत चैतन्य तत्व को एक माना है और समस्त विश्व उसी एक चैतन्य से व्याप्त है। शंकर का मूल चैतन्य वास्तविक सत्, अपरिवर्तनीय, स्वयं अस्तित्ववान, स्वस्वरूप एवं स्वव्याख्येय सत् है। वही शुद्ध सत्ता नानारूपों में प्रकट होने पर भी निराकार है, सान्त विषयों में भासमान होने पर भी अनन्त है, भिन्न-भिन्न भागों में होने पर भी यथार्थतः निरवयव है। इसी निर्विशेष सत्ता को ही शंकर ब्रह्म कहते हैं।

अद्वैत वेदान्तियों ने ब्रह्म का विचार दो दृष्टियों से किया है। वे दो दृष्टियाँ हैं- पारमार्थिक एवं व्यावहारिक। व्यावहारिक दृष्टिकोण द्वारा ब्रह्म का जो वर्णन किया जाता है, उसे ब्रह्म का तटस्थ लक्षण कहते हैं। इस तटस्थ लक्षण के अनुसार ब्रह्म में गुणों का आरोप किया जाता है और इस दशा में ब्रह्म को संसार का स्रष्टा, पालक, संहारक आदि बताया जाता है। इस रूप में उसे सगुण, सविशेष अपरब्रह्म कहते हैं।

किन्तु पारमार्थिक दृष्टिकोण से ब्रह्म के स्वरूप की जो व्यञ्जना प्रस्तुत की जाती है, उसे ब्रह्म का स्वरूप लक्षण कहते हैं। ब्रह्म स्वरूप की दृष्टि से निराकार है, उसमें कोई विकार या गुण नही है। वह अविकारी एवं अपरिवर्त्य है। यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है ।

अद्वैत वेदान्तियों ने ब्रह्म के स्वरूप कथन के विषय में उपनिषदों की सर्वोच्च प्रामाणिकता में विश्वास रखते हुए अपरिभाषेय ब्रह्म के तदनुरूप निष्प्रपञ्चात्मक एवं सप्रपञ्चात्मक दो स्वरूपों का विवेचन प्रस्तुत किया हैं। यही निष्प्रपञ्चात्मक ब्रह्म परब्रह्म है, जिसे शब्दों की परिधि व्याख्या के निमित्त बाध नहीं सकती। **"नेति-नेति"** ही उसकी सर्वोत्कृष्ट विवेचना है। तथापि आचार्य शंकर अपनी तार्किक चिन्तन क्षमता, अनुभूतियों एवं औपनिषदिक विवेचन के परिप्रेक्ष्य में उस परम सत्ता को शाब्दिक विवचेन की परिधि से वेष्ठित करते हुए स्पष्ट करते है कि निर्गुण ब्रह्म परमार्थ तत्व, परमार्थ सत्य, भूमा है तथा नित्य, कूटस्थ, एकमेव, एकरूप भेदरहित, उसके परिणामस्वरूप परिवर्तनरहित, पूर्णतः अपने स्वरूप में स्थित रहने वाला,

ह्रास-वृत्ति, रहित होने के कारण अनश्वर; अदृश्य, अज्ञेय, अग्राह्य, गुणातीत, निरवयव, पूर्णतः शुद्ध, शान्त, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है। वह ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटी से परे महान, अज, अमृत, अभय, अविनाशी, सच्चिदानन्द स्वरूप है।

परब्रह्म में किसी गुण को स्वीकार न करने का अर्थ यह नहीं है कि वह अभावात्मक है। वस्तुतः जो कुछ भी अस्तित्ववान दिखायी देता है वह ब्रह्म का ही अस्तित्व है। वह सदा स्वतन्त्र अस्तित्ववान है अतएव एकमात्र वही सत् है। निर्गुण ब्रह्म के ही एकमात्र सत्य होने तथा उसके अविकारी, अपरिणामी होने से दृश्यमान जगत् एवं जीवों की उत्पत्ति तथा व्याख्या एक समस्या के रूप में उपस्थित होती है। इसी समस्या के समाधानार्थ अद्वैत वेदान्तियों ने ईश्वर की अवधारणा प्रस्तुत की है।

वस्तुतः ईश्वर के सम्प्रत्यय की उतनी ही तर्कीय आवश्यकता है जितनी कि निर्गुण ब्रह्म की। निर्गुण ब्रह्म या परमसत् हमें आवश्यक रूप से स्वीकार करना पड़ता है, क्योंकि उसके बिना अनुभव में आने वाले जगत् की व्याख्या नहीं हो सकती, किन्तु उस शुद्ध सत् से व्यक्त जगत् की कल्पना अपरिहार्य है। अतः हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि ब्रह्म एक ऐसी शक्ति से सम्पन्न है जिससे सम्भवन की प्रतीति निर्मित हो सकती है। वह शक्ति माया है और माया की उपाधि ग्रहण करते ही निर्गुण ब्रह्म सगुण बन जाता है और शंकर उसे अपरब्रह्म या ईश्वर की संज्ञा से अभिहित करते हैं। ईश्वर की जगत् ही पालक, संहारक एवं स्रष्टा है। यही

ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। इसे ही आचार्य शंकर सगुण ब्रह्म कहते हैं। ईश्वर ही जगत् का निमित्त एवं उपादान दोनों कारण है। वस्तुतः ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप निराकार ही है तथापि आचार्य शंकर ने धार्मिक मनुष्यों के लिए जो भक्तिभाव से ब्रह्म की उपासना करते हैं, को सन्तुष्ट करने के लिए ब्रह्म की व्यावहारिक सत्ता को ईश्वर के रूप में स्वीकार किया है। अतः कहा जा सकता है कि ईश्वर तात्विक ब्रह्म का धार्मिक संस्करण है।

अद्वैत वेदान्तियों में प्रमुख आचार्य शंकर ने अपने मूल दर्शन को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए तीन घोषणायें की थीं उनमें से पहली थी "ब्रह्म सत्यम्" दूसरी थी "जगन्मिथ्या" तीसरी थी "जीवों ब्रह्मैव नापरः"। सत्य स्वरूप ब्रह्म और ब्रह्म स्वरूप जीव दोनों के बीच में मिथ्यात्व का या अध्यास का एक कल्पित विक्षेप तथा आवरण है। चैतन्य जो इस अध्यासमयी अविद्या में प्रतिबिम्बित हो रहा है जीव है। अविद्या के संसर्ग से उपाधिग्रस्त चेतन जीव की स्व-स्वरूप-विस्मृति के कारण ही संकल्प-विकल्पमय संसार उसी से निकलकर उसे घेर लेता है और जाग्रत से लेकर मोक्ष पर्यन्त जीव की समस्त धारणायें ही उसकी संसार रूप रचना हैं जिनमें वह फँसा हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कल्पनाओं के बीच आप ही खोया हुआ, जो चैतन्य है वही जीव है। जीव, ब्रह्म एवं अविद्या का मिश्रण हैं जीव का चैतन्य ब्रह्म का हैं तथा जीवत्व अविद्या का है। जीव का विषयत्व अविद्याजन्य अन्तःकरण के कारण है। नित्य होने से जीव उत्पन्न तथा सादि नहीं है। बुद्धि आदि उपाधियों से ही जीव की उत्पत्ति

बतायी गयी है। आचार्य शंकर के अनुसार यद्यपि जीव एक है तथापि उपाधियों के कारण अनेक होता है।

जीव ही प्रमाता, कर्ता एवं भोक्ता है। यही पाप-पुण्य अर्जित करता है तथा उसका फल भोगता हैं यही आवागमन एवं संसरण करता है, किन्तु जीव का यह जीवत्व तथा स्थिति व्यावहारिक ही है। पारमार्थिक स्तर पर समस्त भेद प्रपञ्च मिथ्या है तथा जीव का वास्तविक रूप आत्मा ही रह जाता है।

व्यावहारिक स्तर पर इस भोक्ता चैतन्य के साथ ही हमारे अन्दर ''साक्षि चैतन्य'' भी है। यह साक्षी चैतन्य जो कि प्रत्येक स्थिति में अनुभवी के प्रत्येक अनुभव को निरपेक्ष रूप से जानता है तथा वह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों दशाओं में जीवात्मा के अनुभव तथा अनुभवहीनता की हर स्थिति को जानता है, किन्तु साक्षी-चैतन्य का हर ज्ञान अनासक्तिपूर्ण होता है।

इस प्रकार बाह्यतः आचार्य शंकर के दर्शन में चैतन्य की चार अवस्थाएँ प्रतीत होती हैं। अतः यहां प्रश्न उठता स्वाभाविक ही है कि इन चारों अवस्थाओं में किस प्रकार ऐक्य स्थापित किया जा सकता है तथा प्रतीयमान वैविध्य को मिथ्या कहा जा सकता है? इतनी विविधताओं के होने पर भी क्यों और कैसे आचार्य शंकर का ''मूल चैतन्य'' अद्वय तथा उनका दर्शन अद्वैती दर्शन कहा जा सकता है?

इन्हीं समस्याओं के समाधानार्थ हमारा ध्यान अद्वैत वेदान्त दर्शन में विवेचित त्रिविध सत्ता विभेद की ओर जाता है। मुख्यत: आचार्य शंकर समस्त सत्ताओं को पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक-इन तीन वर्गो में विभाजित करते हैं। परमार्थत: एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है तथा जगत्, प्रपञ्च एवं नानात्व मिथ्या है। ईश्वर, जीव, साक्षी आदि की सत्तायें मात्र व्यावहारिक है। परमार्थत: इनका ब्रह्म में ही समाहार हो जाता है।

ईश्वर, जीव जगतादि की सत्ता परमार्थत: मिथ्या होते हुए भी व्यवहारत: ध्रुवसत्य हैं। आचार्य शंकर स्वीकार करते हैं कि स्वविषय रूप नानात्व सत्य ही है। तत्वप्रतिबोध के पूर्व समस्त लौकिक एवं वैदिक कार्य सत्य ही है। किन्तु अणु या महान जो कुछ भी है यदि उसे परमार्थतत्व से विरहित करके देखा जाय तो वह निश्चय ही असत् है। जीव अविद्या के वशीभूत है और भेदों को सत्य मान लेता है तथा स्वयं को कर्ता एवं भोक्ता समझने लगता है। जीव पर माया के आवरण और विक्षेप दोनों शक्तियों का आधिपत्य है। अवद्यिा ब्रह्मात्मैक्य का आवरण बनती है तथा अद्वय ब्रह्म के स्थान पर नानात्व का विक्षेप उपस्थित करती है। ईश्वर पर माया का कोई आवरण नहीं। ईश्वर माया की विक्षेप शक्ति का सहारा लेता है और प्रपञ्च की सृष्टि करता है। साक्षी अन्त:करणोपहित चैतन्य है जो कर्तृत्व, भोक्तृत्व से पराङ्मुख उदासीन द्रष्टा मात्र है। जब ज्ञान मात्र ज्ञान द्वारा ही जीव अपने तात्विक स्वरूप की सम्यक् अनुभूति कर लेता है तब अत्रैव,

अधुनैव मुक्त हो जाता है, इसे जीवन्मुक्ति कहते हैं। शरीर त्याग के बाद विदेह मुक्ति होती है।

संक्षेप में अद्वैत वेदान्त विशेषकर आचार्य शंकर के दर्शन में एकमात्र तत्व ब्रह्म ही है जो चैतन्य स्वरूप है। वह मायोपाधिक होकर नानारूपों में बिखरा हुआ प्रतीत होता है। यह समस्त बिखराव विवर्तमात्र है, आभास है। अज्ञानस्वरूपा अविद्या के आवरण का विपरिलोप होते ही नानात्व एवं वैविध्य के मिथ्यात्व का निराकरण हो जाता है और एकमात्र मूल अद्वैत तत्व की निष्पत्ति होती हैं, जिसे आचार्य शंकर ब्रह्म कहते हैं।

इस प्रकार विविध भारतीय दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में चैतन्य वैविध्य की समस्या का अनुशीलन करते हुए हम शंकर के अद्वैतवाद तक पहुंचते हैं, जहां तत्वत: वैविध्य समस्या के रूप में रह ही नहीं जाता। चैतन्य वैविध्य की प्रतीति मात्र ही होती है। यह वैविध्य मात्र व्यावहारिक ही है। परमार्थत: मूलभूत चैतन्य तत्व एक ही हैं। **चैतन्य उसे कहते हैं जिसमें वैविध्य आ ही नहीं सकता। समस्त वैविध्य विवर्तमात्र है।** प्रतीयमान विविधता के होने पर भी एकत्व में किसी भी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता है। समस्त विभिन्नताओं के बाद भी जो अपरिवर्तनीय चैतन्यत्व है, वही आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म है तथा यही शंकर का अद्वैतवाद है।

अब यहां जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि आधुनिक युग में इस प्रकार के अद्वैती-चिन्तन का तथा तज्जन्य अध्ययन का हमारे व्यावहारिक जीवन में क्या मूल्य है? आज के परिवेश में जब तक वैज्ञानिक अभ्युदय ने हमें विनाश के कगार पर खड़ा कर दिया है, भौतिकता की तीव्र आंधी ने मानव जीवन के मूल्यों एवं आदर्शो को समूल धराशायी कर दिया है, मानवता खोखली होती जा रही है, विश्वबन्धुत्व की चिरन्तन भावना ओझल होती जा रही है, एक अज्ञात भय तथा संत्रास के आवरण ने सम्पूर्ण मानव जाति को आवृत्त कर रखा है, ऐसे समय में अद्वैती विचारधारा का अपना आकर्षण एवं महत्व कुछ और ही अधिक बढ़ जाता है।

अद्वैत वेदान्त के अद्वैती चिन्तन की गहनता में हम पाते है कि यह दर्शन जीवन के यथार्थ मूल्यों को सम्यक् उद्भासित करते हुए बहुमुखी आयामों को निरूपित करता है। भारतीय संस्कृत में विवेचित "आचार" शब्द की समीचीन प्रस्तुति शंकर दर्शन में भी होती है। इस शब्द का अर्थ है- **"अनुभूत सत्य को जीवन में उतार लेना"**। जीवन्मुक्त की स्थिति इसी तथ्य का प्रतिनिधित्व करती है। पञ्चविकारों के स्वभावजन्य प्रवाह के अवरुद्ध होते ही जीवन सात्विकता से तादात्म्य बना लेता है तथा आध्यात्मिक नैतिकता का अभ्युदय होता है जो निश्चय ही विश्वदर्शन के इतिहास में उपलब्ध किसी भी नैतिकता से उत्कृष्ट एवं व्यापक है।

इस युग के कुछ एक पाश्चात्य विचारकों ने अद्वैत-वेदान्त के नैतिक पक्ष को काफी दुर्बल समझा है, क्योंकि अद्वितीय ब्रह्म को मानने के

बाद एक निश्चित नैतिकता की सम्भावना उन्हें कम प्रतीत होती है। यूकन; वेदान्त-चिन्तन में संसार से कोरा पलायन देखकर यह समझने का भ्रम कर बैठते हैं कि उपनिषदों का लक्ष्य अधिकतर संसार में घुसकर उस पर विजय पाना उतना नहीं जितना कि उससे अनासक्ति एवं मुक्ति पाना है। इस प्रकार के मतों के मूल में एक ही दुर्बलता है कि ये मत एकांगी हैं, इनका दृष्टिकोण बाह्यवर्ती है। ये मत शायद नैतिकता के जीने योग्य पक्ष को कथमपि नहीं देख पाये है। आचरणशीलता एवं नैतिकता का जो अंकन हम भारतीय संस्कृति के मूल में पाते हैं, उसकी उद्‌भावना आचार्य शंकर **विवेक चूड़ामणि** में इस प्रकार करते हैं- "ऐसे लोग जिनकी कामनाएं शांत हो गयी हैं तथा जो स्वयं संसार समुद्र को तैरकर पार कर चुके हैं, वे बिना किसी कारण के लोक कल्याण में लगे रहते हैं।" - जैसे सूर्य किसी के लिए दीप्त नही होता, जैसे नदियाँ, समुद्र, फूल, पर्वत, सम्मत प्रकृति प्रयोजनहीन होकर मानवमात्र पर प्रकाश-तृप्ति एवं सुख की वर्षा करते हैं, उसी प्रकार लोककल्याण ज्ञानी का स्वभाव हो जाता है।

वस्तुतः शांकर वेदान्त दर्शन "जीवों ब्रह्मैव नापर:" की सिद्धि द्वारा लोककल्याण की दिशा में अग्रसर होने का सन्देश देता है तथा मानव और मानव एवं राष्ट्र और राष्ट्र के बीच प्रेम की भावना जाग्रत करता है। ईशोपनिषद् में कहा गया है कि यह ज्ञान सब द्वेष, पक्षपात और ईर्ष्या की जड़ें काट देता हैं और विश्व प्रेम का भाव जाग्रत और पल्लवित करता है। कर्तव्य के प्रति यह नि:स्वार्थ और स्वाभाविक निष्ठा हमें शांकर वेदान्त

में प्राप्त है जो गीता के निष्काम कर्मयोग की याद दिलाती हुई हमें सुख-दुःख, हानि-लाभ से अप्रभावित रहते हुए एक निरपेक्ष, किन्तु आदर्श जीवन को जीने के लिए प्रेरित करती है।

इस प्रकार हम देखते है कि अद्वैत वेदान्त दर्शन एक ऐसा पूर्ण एवं बहुमुखी दर्शन है जिसमें जीवन के समस्त मूल्यों एवं पारमार्थिक स्वरूप पर गहनतापूर्वक विचार किया गया है। विशेषकर शांकर दर्शन के अनुशीलन एवं गहन-विवचेन से हम अपना अभिनव सृजन करते हुए सामाजिक, नैतिक, भौतिक, आध्यात्मिक समस्त दृष्टियों से आत्मोन्नयन कर सकते हैं और एक यथार्थ तथा पूर्ण जीवन निरूपित कर सकते हैं। वाह्याडम्बरों के परित्याग एवं पूर्ण सत्य के सम्यक् अनावरण द्वारा ही हम आत्मस्वरूप का युक्तियुक्त निरूपण कर सकते हैं तथा भारतीय मानसिकता के काल्पनिक **"रामराज्य"** को मूर्तरूप प्रदान करते हुए एक आदर्श एवं सजीव समाज की संरचना कर सकते हैं। यह संदेश भी मूलरूप में हमें आचार्य शंकर के अद्वैतवाद से ही प्राप्त होता है।

इस दर्शन में जीवन का जो सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत किया गया है वह निर्विवाद रूप से सर्वोच्च सम्भव आदर्श है। पूर्ण सच्चिदानन्द की अखण्ड और शाश्वत उपलब्धि और वह भी इसी जीवन में सम्भव बताना इस दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है। कोई भी अधिकारी इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकता हैं। सगुण ईश्वर के सान्निध्य और साक्षात्कार की तुलना में ब्रह्म या परम सत् से तादात्म्य प्राप्त करना कही ऊँची बात है। अपने

सीमित अहं से ऊपर उठकर सर्वव्यापी अहं प्राप्त करना जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि मानी जायगी। उसमें भी एक बड़ा आकर्षण यह है कि यह इसी जीवन में प्राप्त हो सकती है। संसार में ऐसा कोई दर्शन नहीं है जो इस बात में इसकी बराबरी भी कर सके, इससे आगे बढ़ने की तो बात ही क्या हैं ?

एकमात्र विशुद्ध चैतन्य परब्रह्म और मैं ही वह परब्रह्म-यह तथ्य विश्व-दर्शन के इतिहास में उपलब्ध किसी भी तथ्य की तुलना में मानव मन को सन्तुष्टि प्रदान करने में अधिक सक्षम हैं यदि हम यह बता सकें कि आत्मा ही ईश्वर है और वही ब्रह्म है तो धार्मिक अन्धविश्वासों एवं कुरीतियों पर कुठाराघात होगा तथा धर्म का शाश्वत एवं चिरन्तर स्वरूप उद्भासित हो सकेगा। धार्मिक जीवन के क्षेत्र में अमूल क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा। आज जब कि समाज रंग-भेद, ऊंच-नीच, छुआछूत जैसे कुरीतियों के कुचक्र में उलझ गया है। वैयक्तिक अहं का घिनौना ताण्डव द्वेष, हिंसा, घृणा की सृष्टि करता हुआ, दूसरों के अस्तित्व की सम्मानपूर्ण स्वीकृति का निषेध कर रहा है, ऐसे समय में शंकर का अद्वैती चिन्तन हमें व्यावहारिक स्तर पर समानता, सामन्जस्य, सहकारिता, सद्व्यवहार की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है तथा प्राणिमात्र के तात्विक ऐक्य की उपस्थापना द्वारा दूसरों के प्रति एक सम्मानपूर्ण एवं आत्मिक सम्बन्धों की नीव प्रस्तुत करता है जिस प्रकार एक आदर्श एवं मर्यादित समाज की संरचना की जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते है कि 'चैतन्य तत्व' की जो धारा ऋग्वेद शैल-शिखर से निस्सृत होती है वह विविध दर्शनों के अपने धरातल के अनुरूप प्रवाहित होती हुई अन्ततः शंकर के ब्रह्म रूप महासागर के एकत्व में अपनी समस्त विभिन्नताओं को समाहित करती हुई पूर्णता को प्राप्त करती है। वहां नानात्व, वैविध्य की तात्विकता का उपशम हो जाता है और "नेह नानास्ति किञ्चन" की सार्थकता मूर्तरूप ग्रहण कर लेती है।

परिशिष्ट

सहायक ग्रंथ सूची

1. **अपरोक्षानुभूति**- "शंकराचार्य", गीताप्रेस गोरखपुर संवत् 2019 ।
2. **अतैतसिद्धि**- "मधुसूदर सरस्वती", निर्णयसागर प्रेस बम्बई 1937 ।
3. **अद्वैतवेदान्त की तार्किक भूमिका**-"डॉ0 जगदीश सहाय श्रीवास्तव" किताब महल-इलाहाबाद-द्वितीय संस्करण 1985 ।
4. **अद्वैतवेदान्त**- "प्रो0 अर्जुन मिश्र एवं डॉ0 हृदयनारायण मिश्र" प्रथम संस्करण 1990 मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल ।
5. **आत्मतत्वबोध**- "शंकराचार्य, अच्युतग्रंथमाला कार्यालय काशी"- प्रथम संस्करण-1990 ।
6. **आधुनिक चिन्तन में वेदान्त**- "डॉ0 महेन्द्रशेखावत", मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल ।
7. **अद्वैतवेदान्त सम्प्रदाय में ईश्वर**- "डॉ0 प्रमिता अग्रवाल", प्रथम संस्करण-1990, लोकभारती प्रकाशन-महात्मागांधी मार्ग, इलाहाबाद ।
8. **अद्वैत वेदान्त में तत्व और ज्ञान**- "उर्मिला शर्मा", छन्दस्वती प्रतिष्ठान, वाराणसी, प्रथम संस्करण-1978 ।
9. **आत्मतत्व विवेक**- चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी-1970 ।
10. **आचार्य शंकर ब्रह्मवाद**- "डॉ0 रामस्वरूप सिंह", नौलखा, किताबघर, आचार्य नगर, कानपुर ।
11. **इष्टसिद्धि**- विभुक्तात्मा कृत सम्पादक-प्रो0 एम0 हिरियन्ना, वडौदा, 1933 ।
12. **ईशावास्य-भास्यम्**- "शंकराचार्य", गीता-प्रेस, गोरखपुर सं0 2016 ।
13. **उपदेश साहस्त्री**- "शंकराचार्य", सम्पादक-डॉ0 चमन लाल गौतम संस्कृत संस्थान, ख्वाजाकुतुब-बरेली द्वितीय संस्करण-1980 ।

14. **उपनिषद्दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण**- रामचन्द्रदत्तात्रेयरानाडे अनुबादक-रामानन्द तिवारी-तृतीय संस्करण राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर ।

15. **ऐतरेयोपनिषदभाष्यम्**- गीताप्रेस गोरखपुर सं0 2016 ।

16. **कठोपनिषद् शांकर भाष्य**- गीताप्रेस गोरखपुर-1960 ।

17. **केनोपनिषद भाष्यम्**- शंकराचार्य-गीताप्रेस गोरखपुर सं0 2016 ।

18. तैतरीयोपनिषद् शांकर भाष्य-गीताप्रेस गोरखपुर सं0 2019 ।

19. **पंचदशी**- विद्यारण्यमुनिविरचित, पीताम्बर जी कृतभाष्य संपादक- डॉ0 चमन लाल गौतम, संस्कृतिसंस्थान-ख्याजाकुतुब (वेदनगर) बरेली, द्वितीयसंस्करण-1981, संशोधित संस्करण 1972 ।

20. **प्रश्नोपनिषद् शांकर भाष्य**-गीताप्रेस गोरखपुर सं0 2016 ।

21. **वृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य**-गीताप्रेस गोरखपुर ।

22. भारतीय दर्शन (भाग-दो) डॉ0 राधाकृष्णन, राज्यपाल एण्डसन्स कश्मीरीगेट, दिल्ली, द्वितीय संस्करण-1972 ।

23. **भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप**- ''डॉ0 श्रीकृष्ण सक्सेना'' चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी प्रथम संस्करण-1969 ।

24. **भारतीय दर्शन**- ''श्री सतीश चन्द्र चट्टोपाध्याय एवं श्री धीरेन्द्रमोहन दत्त'' प्रकाशक-पुस्तक भण्डार पटना, द्वितीय संस्करण-1958 ।

25. **भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण**- ''प्रो0 संगम लाल पाण्डेय'' सेण्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद -द्वितीय संस्करण-1984 ।

26. **भारतीय दर्शन**- ''आचार्य बल्देव उपाध्याय'' चौखम्बा ओरियन्टालिया द्वितीय संस्करण 1979 ।

27. **विवरण प्रमेय संग्रह**- ''विद्यारण्य'', अच्युतग्रंथमाला कार्यालय वाराणसी।

28. **विवेकचूड़ामणि**- ''शंकराचार्य'', घनश्यामदास-गीताप्रेस गोरखपुर प्रथम संस्करण-1988 ।

29. **वेदान्त कल्पतरू**- "अमलानन्द" निण्र्य सागर प्रेस बम्बई-1938 ।

30. **वेदान्त परिभाषा**- "धर्मराजा ध्वरीन्द्र और शिवदत्त का भाष्य अर्थदीपिका", चौखम्बा संस्कृत कार्यालय, वाराणसी द्वितीय संस्करण-1937 ।

31. **वेदान्तसार**- "सदानन्द, व्याख्याकार श्रीरामशरण त्रिपाठी", शास्त्री", पंचम संस्करण' 1983 चौखम्बा संस्कृत कार्यालय, वाराणसी ।

32. वेदान्तसार (हिन्दी-रूपान्तरण) तत्वपरिजातहिन्दी व्याख्यासंबलित "सन्तनारायण श्रीवास्तव", लोकभारतीय प्रकशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण-1968 ।

33. श्रीतत्सुरेश्वराचार्य विरचित वृहदारण्योपानिषद् निषद्भाष्य वार्तिकम् आनन्दाश्रम संस्कृतग्रंथावलिः आनन्दगिरिकृतशास्त्रप्रकाशिका टीका संवलित खिस्ताब्द-1993 ।

34. **वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली**- "प्रकाशानन्द", अच्युत ग्रंथमाला, कार्यालय-काशी, प्रथम संस्करण-1937 ।

35. **भारतीय दर्शन**- "डॉ0 नन्दकिशोर देवराज" चतुर्थ संस्करण-1992 उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित ।

36. **भारतीय दर्शन डॉ0 चन्द्रधर शर्मा**- प्रथम संस्करण-1990। मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा0 लि0 दिल्ली ।

37. **भारतीय दार्शनिक निबन्ध**- "संपादक- डॉ0 डी0 डी0 वंदिण्टे एवं डॉ0 रमाशंकर" द्वितीय संस्करण-1991 । मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी।

38. **ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्**- "ब्रह्मतत्वविमर्शिनी" हिन्दी व्याख्या सहितम् विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला चौखम्बा वाराणसी द्वितीय संस्करण-1977

39. **मूलशांकर वेदान्त**- "डॉ0 संगम लाल पाण्डेय", सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद-1979 ।

40. **समकालीन दर्शन**- "प्रो0 बसन्त कुमार लाल", प्रथम संस्करण-1991, मोती लाल बनारसी दास, जवाहर नगर, दिल्ली ।

41. **भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा**- ''डॉ0 राममूर्ति पाठक'', अभिमन्यु प्रकाशन द्वितीय संस्करण-2000 ।

42. **शांकर वेदान्त में चैतन्य**- ''डॉ0 शशी देवी'' सिंह-प्रथम संस्करण-1988, गौरव प्रकाशन-खजुरी, वाराणसी ।

43. **सर्वदर्शन संग्रह**- ''माध्वाचार्य'', भाष्यकार-उमाशंकर शर्मा ''ऋषि'' चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण-1978 ।

44. **सिद्धान्तलेशसंग्रह**- ''श्रीमद्अप्पयदीक्षित'', अच्युतग्रन्थमाला - काशी, सम्वत्-2011 ।

45. **श्री शंकराचार्य**- ''डॉ0 बलदेव उपाध्याय'', इलाहाबाद-1950 ।

46. **श्रीमद्भगवद्गीता**- ''राम दयाल गोयनका'', अनुवाद (तत्त्वविवेचनी टीका सहित) गीताप्रेस-गोरखपुर सम्वत्-2033 ।

ENGLISH BOOKS

1. A History of Indian Philosophy–S N Das Gupta, Cambridge University, Press–1962 Vol–I, II.
2. Attitude of Vedanta Towards Religion–Abhedanand Swami Calcutta, Ram Krishna Vedant–1947
3. The Concept of Saksi in Advaita Vedanta–A K. Chatterjee, R R Dravid B H U Varanasi–1979, I Ed.
4. Nagarjuna and Shankara–A C Mukherjee–Allahabad–1938
5. Philosphical Essays–S.M Das Gupta, Calcutta–1941.
6. Pre–Samkara Advaita Philosophy–Sangam Lal Pandey, Darsan Peeth, Allahabad, First Published–1974
7. "Gaudhada–A Study in Early Advaita" T.M P Mahadeven Madras–1954